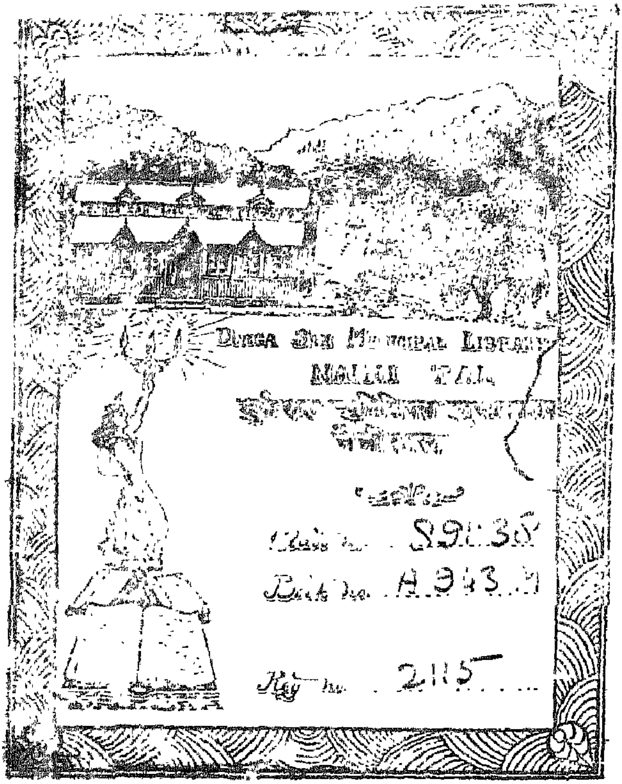

2115

श्री ______________________________

____

____

के कर-कमलों में सादर भेंट

मकरन्द

लेखक—

अनेक पुस्तकों के रचयिता

श्री आनन्दि प्रसाद श्रीवास्तव

प्रकाशक—

विश्व ग्रन्थावली कार्यालय,
५०६, दारागंज, इलाहाबाद

सं० १९८९ वि० } प्रथम संस्करण { मूल्य १॥)
सन् १९३२ ई० } १००० प्रतियां

मुद्रक—

श्री कृष्णा राम मेहता
लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

सूची

				पृष्ठ
	भूमिका			...
१	और तब—	...	...	१
२	मातृ-स्नेह ...	...	...	१२
३	वही ...	...	...	१९
४	परिवर्तन ...	...	...	२८
५	चोर ...	...	...	३५
६	बन्धन ...	...	...	४७
७	चिन्ता-मुक्ति	...	...	६१
८	कुवासना ...	...	...	८०
९	अपरिचय ...	...	...	८५
१०	छल ...	...	...	९२
११	वर-परीक्षा	...	...	१०९
१२	भ्रम ...	...	...	१३४
१३	सती का सौभाग्य	...	...	१४०
१४	अर्थात् ...	...	...	१४९

भूमिका-लेखक

कहानी-कला-विशेषज्ञ, कहानी-कला-संबंधिनी हिन्दी की एकमात्र पुस्तिका 'कहानी कैसे लिखना चाहिये' के प्रणेता, सम्पादक, उर्दू चाँद

मुंशी कन्हैया लाल

एम० ए०, एम० आर० ए० एस०

का

दावा

"........श्रीवास्तव जी की ही ऐसी कहानियाँ हैं जो हमारी पिछड़ी हुई हिन्दी कहानियों को संसार की अन्य नामी कहानियों के मुक़ाबिले स्थान दिला सकेंगी।"

भूमिका

बाबू आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव के कहानियों के संग्रह का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के लिए सौभाग्य की बात है। मुझे इस पुस्तक की पहिली दो कहानियों को पढ़ने का मौक़ा 'सरस्वती' में प्राप्त हुआ था। "और तब" 'सरस्वती' की किसी पिछली संख्या में और "मातृस्नेह" 'सरस्वती' के प्रसिद्ध वर्षांक में प्रकाशित हुई थीं। ये दोनों कहानियाँ मैंने बहुत ही पसंद की थीं, मुझे अफ़सोस था तो इस बात का कि श्री आनन्दी प्रसाद जी की दो ही कहानियाँ प्राप्त थीं। इस पुस्तक की और एक अर्थात् अन्तिम कहानी श्रीवास्तवजी ने मेरे ही आग्रह से लिखी थी जो मेरे एक प्लाट पर लिखाई हुई कहानियों के संग्रह के लिए थी। अब पुस्तक रूप में उनकी बहुत सी कहानियाँ पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।

आज-कल हिन्दी में कहानी लेखक बहुत हो रहे हैं और कहानियाँ भी बहुत प्रकाशित हो रही हैं। यह अफ़सोस की बात है कि अच्छे कहानी-लेखकों और कहानियों की कमी है। कहानी-लेखन-कला की दृष्टि से देखने पर और उसकी कसौटी पर कसने पर ऐसी कहानियाँ कम मिलेंगी जो हर तरह से अच्छी कही जा सकें। यह मान लेने में कोई शर्म की बात नहीं है कि हिन्दी के बहुत-से सर्वश्रेष्ठ लेखकों की उत्तम कहानियाँ भी अन्य भाषा की साधारण कहानियों से भी गई-बीती होती हैं। इसके कारण बहुत से

हैं, एक ख़ास कारण यह है कि हमारे लेखक कहानी लिखना सब से साधारण काम समझ कर उसकी कला की ओर ज्यादा ध्यान नहीं देते और जो कुछ भी जी चाहा लिख कर कहानी के नाम से प्रकाशित करा देते हैं, मेरा तो व्यक्तिगत यह विचार है कि ऐसी ही कृतियां कला के नाम पर कला का ख़ून कर देती हैं।

हिन्दी की पत्रिकाओं में अन्य भाषा से अनुवादित कहानियों का ज्यादा तादाद में प्रकाशित होना इस बात को सिद्ध करता है कि हिन्दी में या तो अच्छी कहानियों का अभाव है या अनुवादित कहानियाँ अपने यहाँ की कहानियों से अच्छी होती हैं, इसीलिए तो वे चाव से पढ़ी जाती हैं।

इस जमाने में जब हिन्दी में बहुत से लेखकों की कहानियाँ बराबर प्रकाशित हो रही हैं पर दूसरी भाषा से मदद लेकर अपने मनोरंजन का सामान एकत्रित किया जाता है, श्रीवास्तवजी की मौलिक कहानियाँ हिन्दी की कला-पूर्ण कहानियों के अभाव को बहुत कुछ दूर करने में समर्थ होंगी।

इन कहानियों का कथा-भाग रहस्य-पूर्ण है जिससे पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है। कथोपकथन उच्च कोटि का, सुरुचिपूर्ण और अनिवार्य है। मैं कहानी में इन दोनों बातों के होने की आवश्यकता और दूसरी बातों से ज्यादा समझता हूँ, क्योंकि कहानी में घटना जितनी ही अच्छी तरह से वर्णन की जायगी उतनी ही अच्छी कहानी होगी। लेखक की योग्यता उसके घटना के उस चुनाव से मालूम होती है जिस पर कहानी का ठट्ठर बनाया जाता है। "और तब" अपने ढंग की एक ही कहानी है जिसका प्लाट स्वाभाविक होते हुए भी कितना मौलिक, कितना आश्चर्य-

जनक और कितना आकर्षक है। लेखक ने अपनी घटनाओं के प्रवाह को क़ायम रखने के लिए कथोपकथन से अच्छी मदद ली है।

कहानियों की भाषा दूसरे किसी साहित्य के अंग की भाषा से नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि कहानी ज्यादातर मन बहलाव और मनोरंजन की चीज़ समझी गई है। मनोरंजन की चीज़ को समझने के लिए शायद ही कभी कोई कोष खोलना पसंद करेगा। इसलिए आम बोलचाल की भाषा में ही कहानी का होना आवश्यक समझा जाता है और चूँकि बोलचाल की भाषा और किसी साहित्यिक विषय में नहीं काम में लाई जा सकती इसलिए शायद मेरा यह कहना कि कहानी की भाषा भी एक ख़ास तरह की होती है ठीक समझा जायगा। श्रीवास्तवजी का भाषा पर पूरा अधिकार है। कवि होते हुए भी उन्होंने कवित्वपूर्ण भाषा से बचने में सफलता पाई है और व्यर्थ शब्द से खूब दूर रहे हैं। उनकी भाषा में कहानियों के लिए जितना कवित्व उचित है उतने ही का समावेश है। भाषा में प्रवाह भी खूब है।

बाबू आनन्दी प्रसाद की कहानियों में एक ख़ास बात यह और है कि कहानियाँ पढ़ने के बाद बहुत समय तक अपना असर क़ायम रखती हैं, उनके पात्र आँखों के सामने आकर खड़े हो जाते हैं और उनके साथ हमें सहानुभूति हो जाती है।

मेरा तो यह ख़्याल है कि आजकल के कहानी-लेखकों में श्रीवास्तव जी को एक बहुत ऊँचा स्थान मिलना चाहिए क्योंकि उनकी कहानियाँ हिन्दी में जैसी कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं या अन्य भाषा से अनुवादित हो रही हैं उनमें से

किसी से कम नहीं हैं, मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि श्रीवास्तव जी की ही ऐसी कहानियाँ हैं जो हमारी पिछड़ी हुई हिन्दी कहानियों को संसार की अन्य नामी कहानियों के मुक़ाबले स्थान दिला सकेंगी। मुझे पूर्ण आशा है कि इस 'मकरंद' की सुगंध केवल भारतवर्ष के साहित्य-वायुमंडल में ही फैल कर नहीं रह जायगी बल्कि विदेश में भी पहुँचेगी।

"कृष्ण-कुञ्ज"
प्रयाग
दीपावली, सन् १९३२

(मुन्शी) कन्हैयालाल

मकरन्द

और तब—

डॉक्टर साहब ने पूछा—और तब ?

उसे डॉक्टर साहब के इस प्रश्न में कदाचित् उपहास का आभास जान पड़ा। इसी से वह क्षणभर रुक कर उनकी ओर निश्चल दृष्टि से देखने लगा। परन्तु डॉक्टर साहब ज्यों के त्यों गम्भीर बैठे थे। उनके चेहरे पर न कौतूहल था, न परिहास। ऐसा जान पड़ता था कि मानो कोई न्यायाधीश किसी का इज़हार ले रहा है। इससे उसे कुछ आश्वासन हुआ और वह फिर कहने लगा—मैं जानता हूँ कि आप लोग मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। परन्तु संसार में ऐसी भी बातें होती हैं जिनके होने की सम्भावना हम कभी नहीं करते। यही बतलाइए, क्या आप यह सम्भव समझते थे कि आज आप घूमने के लिए निकलेंगे और एक क़ब्र के पास बैठ कर एक अपरिचित मुसलमान से बातचीत करेंगे। न आपने मुझे कभी पहले देखा था और न मैंने आपको कभी देखा था। घंटे भर के बाद आप न जाने कहाँ रहेंगे और मैं न जाने कहाँ रहूँगा। तो भी हम लोग आज यहाँ बैठे हुए हैं। यह क्या असाधारण घटना नहीं है ?

इतना कह कर वह चुप हो गया। कदाचित् वह डॉक्टर साहब को उत्तर देने का मौक़ा देना चाहता था। परन्तु डॉक्टर साहब ने उसकी बात को चुपचाप युक्ति-सङ्गत मान लेने में कोई बाधा नहीं देखी। यह देख कर वह भी सन्तुष्ट होकर कहने लगा—

हाँ, और तब विवाद छिड़ जाता। तर्क करने में अब्दुल हलीम अब्दुल वहीद से कम न था। एक कहता था कि प्रेम कुछ नहीं, वासना-मात्र है। रूप पर, लावण्य पर या बहुत हुआ तो गुण पर जो आसक्ति होती है उसे ही प्रेम कहते हैं। प्रेम-विह्वलता हृदय की अशक्तता के सिवा और कुछ नहीं। प्रेम हृदय पर इतना आघात नहीं पहुँचा सकता जितना लोग समझते हैं। उसमें पवित्रता ज़रा भी नहीं है। इन्द्रियलोलुपता उसका दूसरा पर्याय है।

दूसरे का मत था कि प्रेम स्वर्गीय प्रकाश है। आत्मा का सम्मिलित विकास है—प्रेम ही सृष्टि का आदि, मध्य और अवसान है। वियोग मानव-प्राण का घातक तक हो सकता है। प्रेम और वासना भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। वासना के पूर्ण न होने से मनुष्य मर नहीं सकता। प्रेम के बराबर पवित्र भाव और कोई नहीं है। मुक्ति, आत्मा, परमात्मा सब प्रेम के पर्याय-मात्र हैं।

रज़िया अब्दुल वहीद की चचेरी बहन थी। वह बड़ी सुन्दर थी। वहीद के साथ उसका विवाह होने वाला था। अपने मा-बाप की मृत्यु के बाद से वह वहीद के यहाँ ही आकर रहने लगी थी। इन दोनों का हृदय बड़ा कोमल था—यहाँ तक कि उन्हें कमज़ोर कह सकते हैं।

जिन घटनाओं पर हम और आप केवल 'वाह' या 'आह' कह कर एक ओर चले जाते हैं उनका उनके शरीर पर—नस नस

पर—प्रभाव पड़ता था। यह प्रभाव उन पर घंटों रहता था। जब कभी वे दोनों एक दूसरे पर किसी कारण चिढ़ते थे तब दो ही एक घंटे में वे लोग अशक्त से हो जाते थे। ज़रा सा धक्का भी उनके लिए असह्य हो जाता। एक छोटी सी बात उन्हें रुला देने के लिए काफ़ी थी।

हलीम डॉक्टरी पढ़ता था। उसे यह सब ढोंग असह्य था। एक दिन हलीम ने वहीद से कहा—आज एक मृत स्त्री का पोस्ट-मार्टम किया गया। उसने न जाने किस दुःख से ज़हर खा लिया था। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वह अपने पति के अत्याचार से ही तंग आकर मर गई। भाई, तुम्हारा यह प्रेम ग्रीष्मकाल के प्रभात-काल के समान कुछ ही समय तक रम्य होता है। यदि प्रेम चिर-स्थायी हो तो वियोग सह्य ही न हो। यही नहीं, एक के न रहने पर दूसरा रह ही न सके। इसके उत्तर में वहीद ने कहा—तुमने यह बिलकुल ठीक बात कही। यदि मुझे रज़िया से चिर-वियोग की आशङ्का-मात्र हो तो मैं तो जीवित नहीं रह सकूँगा।

हलीम हँसने लगा।

धीरे धीरे एक साल बीत गया। रज़िया बहुत बीमार पड़ गई। अचानक एक दिन सवेरे घर में कुहराम मच गया। जब बहुत दिन चढ़ आया और अब्दुल वहीद अपने कमरे में सोता पड़ा ही रहा तब किसी ने जाकर उसे जगाया। जान पड़ा कि वह ऐसी निद्रा में सो गया था जिससे जागना सम्भव नहीं था।

हलीम ख़बर पाकर भौंचक रह गया। अभी कल ही शाम को उससे और वहीद से उसी विषय पर बहस हुई थी। उसने वहीद और रज़िया के प्रेम की फिर भी हँसी उड़ाई थी। क्या ईश्वर

ने उसी विवाद का निर्णय करने का यह उपाय किया था। बाल्य-बन्धु की इस अचानक मृत्यु से वह विचलित हो उठा। जिस प्रेम को वह कुछ नहीं समझता था वही उसके हृदय में घर किये हुए था। जो सदा से आत्मीय है उसे हम कितना चाहते हैं, यह केवल समय पड़ने पर ज्ञात होता है। नहीं तो हम स्वयं उसके प्रति अपने भावों की गम्भीरता का पता नहीं पाते, कुछ भाव है भी या नहीं यह भी नहीं जान सकते।

हलीम की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। अभी तक वह समझता था कि यदि उसका कोई मित्र मर जायगा तो केवल उसके मनोरञ्जन की हानि होगी। परन्तु आज उसके हृदय का कोना-कोना तड़प उठा। बाल्य-बन्धु का क्या मूल्य होता है, आज उसकी समझ में आया। किसी भी वस्तु का मूल्य उसके अभाव पर मालूम होता है।

हलीम ने जब वहीद के कमरे में प्रवेश किया तब उसे एक नया अनुभव हुआ। वह सोचने लगा कि अपने बाल्य-बन्धु को अपने ही हाथों से कैसे दफ़न करूँगा। वहीद का मुख देखने पर उसे विश्वास नहीं आया कि वह मर गया है। उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि वह बोला ही चाहता है। कदाचित् हँस कर वह कह उठे कि अब देखना कि रज़िया मेरे बिना जी सकती है या नहीं।

\+ \+ \+ \+

जिस समय हलीम अपने मित्र के जनाजे के साथ जा रहा था उस समय फिर उसकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने हृदय के विरोधों पर विजय पाई। उसने सोचा कि वर्डस्वर्थ निरे कवि थे। यदि उन्होंने कहा भी कि "वैज्ञानिक, माता की क़बर को भी परीक्षा-

स्थल बना सकता है" तो क्या हुआ। क्या उनके कहने से हम संसार के हित का विचार त्याग देंगे। वहीद के शरीर को क़बर के भीतर सड़ने देना अच्छा है या उसके द्वारा विज्ञान-संसार को कुछ लाभ पहुँचने देना।

ऐसा मुर्दा मैंने तो कभी नहीं देखा कि जिसके मुख पर जीते-जागते मनुष्य का सा तेज हो। देखना चाहिए कि इस मुर्दे में क्या विशेषता है। कदाचित् इसके द्वारा किसी गूढ़ वैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन हो सके—कदाचित् डॉक्टरों को मृत्यु और जीवन के बारे में कोई नई बात मालूम हो जाय। हमारे प्रोफ़ेसर साहब को ऐसी बातों से बड़ा अनुराग है। उन्हीं के द्वारा इसकी परीक्षा करानी चाहिए। इसी समय उसने मन ही मन निश्चय किया कि शव को अपने कुछ साथियों की सहायता से रात के समय गुप्त रीति से मेडिकल कालेज पहुँचा दूँगा।

और जब अँधेरा हो गया तब वह शव को उठा ही लाया।

उस रात को स्पेशल क्लास लगा। विद्यार्थी चारों ओर क़तार बाँध कर खड़े हो गए। मुर्दे की ओर सभी उत्सुकता के साथ देखने लगे। मुर्दे का चेहरा तेजोमय था। मृत्यु में जीवन छिपा-सा जान पड़ता था। शङ्का होती थी कि कहीं वह बोल न उठे। जैसे कोई अभी सो गया हो। प्रथम वर्ष के नये कोमल-हृदय विद्यार्थी सोचते थे कि इस मुर्दे पर भी प्रोफ़ेसर साहब की निठुर छुरी चल जायगी। आँखें देख कर सोचते थे कि क्या आश्चर्य कि ये खुल जायँ। बिम्बाफल ऐसे लाल ओठ मानो खुले पड़ते थे। मुस्कुराहट लजा कर मानो उनमें छिप-सी गई थी। कल्पना के प्रबल वेग में उनमें से कितने ही विद्यार्थी यह भूल गये थे कि यह मुर्दा है। शङ्का

और सद्भावना सम्भावना में परिणत हो गई। कोई कोई विद्यार्थी मन में यह समझने लगे कि ओंठ अब खुले।

प्रोफ़ेसर साहब भी कुछ चिन्ता में पड़ गए थे। उन्हें मुर्दे में जीवन के लक्षण दीख पड़ते थे। परन्तु उसके जीते रहने का कोई वाह्य प्रमाण नहीं था। कहीं वे ऐसे आदमी को तो न चीर डालेंगे जो जी सकता है। इस समय उन्हें हिन्दुस्तानी योगियों की कथाएँ याद आने लगीं। कहीं मुर्दे का प्राण ब्रह्माण्ड में तो नहीं चढ़ गया था और कहीं अटक रहा। परन्तु योगी कहाँ से आवें जो अपनी अद्भुत युक्ति से प्राण को शरीर में फिर उतार सकें। वे सोचने लगे कि अगर यही बात है तो इसके मस्तिष्क में अभी जीवन होना चाहिए। जीवित मस्तिष्क और मृत मस्तिष्क में अगर कुछ भेद होता होगा तो मालूम हो जायगा। इसको लोगों ने दफ़न तो कर ही दिया है। मरा हो चाहे जीता, मर तो चुका ही है। अब इसकी जान लेने का दोष मेरे सिर नहीं पड़ सकता। यही सब सोचते-सोचते प्रोफ़ेसर साहब ने छुरा उठाया और मुर्दे की ओर झुके। परन्तु अभी छुरा अपना काम न कर पाया था कि मुर्दा हिल कर उठ बैठा। "हाँ! हाँ! ख़बरदार!" की आवाज कमरे में बार-बार गूँजने लगी।

यही कहते हुए मुर्दे ने प्रोफ़ेसर साहब की कलाई जोर से पकड़ ली। मुर्दा मशीन के समान उन्हीं शब्दों का उच्चारण किये जाता था। और प्रोफ़ेसर साहब की कलाई को कसता ही जाता था।

यह भयानक दृश्य देख कर किसी विद्यार्थी को चक्कर आ गया—कोई बेतहाशा भाग निकला। नये विद्यार्थी तो बेहोश होकर गिर गिर पड़े। सारा क्लास थर्रा गया। प्रोफ़ेसर साहब स्वयं काँपने

और हाथ छुड़ाने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु जो उँगलियाँ उनकी कलाई पकड़े हुए थीं वे इस समय फ़ौलाद हो रही थीं।

पहले तो उनकी आँखें झप गईं। पर शीघ्र ही वे सँभल गए। वैज्ञानिक-सुलभ प्रत्युत्पन्नमति ने ज़ोर मारा। निरीक्षण शक्ति अपना काम कर गई। उन्होंने देखा कि मुर्दे के होंठ हिल रहे हैं। नाक और पेट पर दृष्टि डालने से ज्ञात हुआ कि अब उसकी साँस भी चल रही है। परन्तु वह कहता है एक ही बात "हाँ हाँ! ख़बरदार" और उनकी कलाई को दबाने में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। उनके भीतर एक बिजली सी चमक गई—अचानक उस सारे व्यापार का कारण उनकी समझ में आगया। उन्होंने झट आश्वासन दिया—'आप शान्त हो जाइए, घबराहट का कोई कारण नहीं। मैं समझ गया कि आप जीते हैं। मैं और कुछ समझ कर आप पर वार नहीं करूँगा। बिलकुल निश्चिन्त हो जाइए। आपको अब कोई नुक़सान नहीं पहुँच सकता।'

इतना सुनते सुनते कमज़ोरी के मारे मुर्दा फिर लेट गया। प्रोफ़ेसर साहब की कलाई का बन्धन ढीला पड़ गया। उन्होंने हलीम को सम्बोधन करके कहा कि जल्दी जाकर कुछ हलका भोजन तैयार करो। हलीम सन्नाटे में सब सुध-बुध भूला हुआ था। पिछले दो मिनट की उसे ख़बर ही न थी। प्रोफ़ेसर साहब के कहने पर वह भौचक्का-सा आज्ञा-पालन के लिए दौड़ा।

प्रोफ़ेसर साहब ने पहले तो धीरे से अपना हाथ छुड़ाया। फिर मुर्दे की नाड़ी-परीक्षा करने लगे। नाड़ी में विशेष कमज़ोरी थी, पर वह चल रही थी ठीक।

वहीद जब भोजन करके कुछ स्वस्थ हुआ तब प्रोफ़ेसर साहब

ने बड़े आश्चर्य्य के साथ उसका हाल पूछा। उसने जो कुछ बताया उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

वह मरा नहीं था। उसकी साँस कहीं अटक-सी गई थी। जैसे टूटी हुई नींद के सपने में आदमी बाहर का सब हाल देखता है, वैसे ही वह भी सब हाल देख रहा था। वह बहुत चिल्लाया कि मैं मरा नहीं हूँ, पर किसी ने न सुना। वह न जाने कैसी अवस्था में था कि उसके हाथ-पैर कुछ भी हिल-डुल नहीं सकते थे। अन्त में वह दफ़न कर दिया गया। उसके बाद जब प्रोफ़ेसर साहब उसे चीरने चले तब उसको बड़ा क्रोध आया। और वह शक्ति भर प्रयत्न करके उठ बैठा और चिल्ला उठा।

वहीद ने कहा—अँधियाला था। इसलिए मुझे मालूम न हुआ कि मुझे यहाँ कौन लाया है।

प्रोफ़ेसर—तुम्हारे दोस्त हलीम तुम्हें लाये थे।

वहीद अपने वैज्ञानिक दोस्त की करामात पर उदास भी हुआ और हँसा भी।

अन्त में वहीद ने पूछा—रज़िया अब कैसी है?

हलीम—वैसी ही है।

वहीद—चलो मैं उसे देखूँ।

हलीम—अभी सबेरे तक आप ठहरिए।

वहीद—क्यों?

हलीम—उसका कमज़ोर दिमाग़ आपको एकाएक देख कर न जाने कैसा हो जाय—हार्ट फ़ेल हो जाने का डर है।

वहीद समझ गया। निश्चित हुआ कि पहले हलीम जाकर

वहीद के जी उठने की ख़बर करे, फिर दूसरे दिन सबेरे वहीद रज़िया को देखने जाय।

रात ही को हलीम घर की ओर रवाना हुआ। बारह बज गये थे। जगह सुनसान थी। कोई मार भी डाले तो पता न चले। एक ओर अँधेरी झाड़ी से किसी औरत की चीख़ सुनाई पड़ी। हलीम ने साइकिल वहीं रक्खी और टार्च की रोशनी की सहायता से उसी ओर को दौड़ा। देखा, एक बदमाश एक सुन्दर युवती के गहने उतार रहा है। उस युवती का मुख क्या था—चाँद का टुकड़ा। उसने बड़ी बेबसी से हलीम की ओर देखा। हलीम को उसी समय मालूम हो गया कि प्रेम क्या वस्तु है। हलीम उस बदमाश पर टूट पड़ा। उसको पटक कर उस पर चढ़ बैठा। सीटी बजाई। पुलिस आ पहुँची। बदमाश को पुलिस के सिपुर्द किया। और उस युवती को उसके घर पहुँचा आया। रास्ते में युवती ने जिस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट की उस ढङ्ग ने तो हलीम को मानो मोल ले लिया।

जब अब्दुल हलीम घर पहुँचा तब रज़िया का देहान्त हो चुका था। उस घोर रुग्णावस्था में उसका कोमल हृदय वहीद के वियोग से फट गया था।

यह घोर समाचार सुनकर हलीम का हृदय छटपटाने लगा। कहानी सुखान्त होते होते दुःखान्त हो गई। उस घोर मानसिक उथल-पुथल में वह अपने आपे में न रहा। सीधे कमरे में जाकर चारपाई पर पड़ रहा। उसने सोचा कि जिसको वहीद के जी उठने का समाचार अमृत होता वह तो चल ही बसी—और किसी से उसके कहने की अब क्या जल्दी है। सबेरे सबसे कह देंगे।

इस रात हलीम का हृदय न जाने कैसा हो रहा था। सं-

असारता का विषम अनुभव उसे होने लगा था। यहाँ फूलों में काँटे छिपे रहते हैं, अमृत में विष रहता है। न जाने कब क्या हो जाय। जीवन का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। यह तो पानी का बुलबुला है। इन्हीं विचारों में वह सो गया और भयानक स्वप्न देखने लगा।

सबेरे हलीम की आँख देर में खुली। धूप चढ़ आई थी। जब वह बाहर निकला तब सुना कि रज़िया का जनाज़ा निकल चुका है। वह अपने इस तरह सो जाने पर बड़ा लज्जित हुआ। झटपट मुँह-हाथ धोकर क़ब्रस्तान की ओर चला।

क़ब्रस्तान कुछ दूर रह गया होगा कि कुछ परिचित व्यक्ति उधर से सरपट भागते हुए आते देख पड़े। उनके पीछे और बहुत से लोग थे। रज़िया के शव के साथ जो लोग गये थे वे लगभग सभी लौटे आ रहे थे। हलीम ने व्यग्रता के साथ पूछा कि क्या हुआ?

उनमें से कुछ ने हाँफते हुए कहा—

"भई भागो। हम लोग रज़िया को दफ़न कर चुके थे कि वहीद की रूह वहाँ पहुँच गई। जनाब, वह तो बिलकुल मुजस्सिम वहीद ही है और अब रज़िया के क़ब्र पर मातम कर रही है—तुम उधर कहाँ जा रहे हो? भागो भागो!" जिसने उसको देखा, लौट चलने ही के लिए अनुरोध किया।

हलीम—मैं जा रहा था आप लोगों में शामिल होने।

सबने एक ही साँस में कहा—तोबा! तोबा, अब वहाँ न जाओ।

हलीम—भई मैं जरूर जाऊँगा और अपने दोस्त की रूह देखूँगा।

और तब—

सबने बहुत रोका, मगर हलीम ने एक न मानी। लाचार सभी लोग उसे वहीं छोड़ अपनी अपनी जान लेकर भागे।

हलीम सीधा क़ब्रस्तान गया। वहाँ पहुँच कर उसने देखा कि वहीद घुटना टेक कर मज़ार पर सिर रक्खे हुए बैठा है। थोड़ी देर तक वह योंही देखता रहा। वहीद बिलकुल हिलता-डुलता नहीं था। हलीम ने कई बार पुकारा, परन्तु कोई उत्तर न मिला। तब उसने उसे हिलाया-डुलाया। नाड़ी-परीक्षा की तो हृदय धक से हो गया। वहीद इस असार संसार को त्याग चुका था। हलीम के हृदय में तो अँधेरा था ही, अब आँखों के आगे भी अँधेरा छा गया। उसे जान पड़ने लगा कि आशा-मरीचिका है—जीना व्यर्थ है। पर शीघ्र ही उस हवा और अन्धकार में बड़ी दूर एक दीपक-सा टिमटिमा उठा। वह प्रेम की एक क्षीण ज्योति देखने लगा। उसे ऐसा जान पड़ा कि मृत्यु के उस पार वही ज्योति है। यहाँ तो उसका आकार-मात्र है।

डॉक्टर साहब, यही मेरी कहानी है। मैं ही अब्दुल हलीम हूँ। जहाँ कहीं मैं कोई क़ब्र देखता हूँ वहीं क्षण भर बैठ जाता हूँ। उस समय मुझे मृत्यु भयङ्कर नहीं जान पड़ती। ऐसा मालूम होने लगता है कि वह हमें उस लोक में पहुँचा देती है जहाँ विच्छेद की सम्भावना नहीं, जहाँ केवल प्रेम का साम्राज्य है।

मातृ-स्नेह

रामचन्द्र—तुम जब देखो तब सार्वजनिक कार्यों के फेर में पड़ी रहती हो—घर-द्वार का कुछ ध्यान नहीं। घर की अव्यवस्था देख कर चित्त में व्याकुलता का संचार हो जाता है। क्या सार्वजनिक जीवन का यही अर्थ है कि व्यक्तिगत जीवन का नाश हो जाय ?

सुशीला—नहीं, स्त्री के जीवन का यही अर्थ है कि दिन रात कोल्हू के बैल के समान गृह-कार्य्यों में लगी रहे और आप लोगों के आराम का सामान करती रहे।

रामचन्द्र—मैं यह नहीं कहता, परन्तु फिर भी घर का काम-काज तो देखना ही चाहिए।

सुशीला—आप सदैव एक न एक झगड़ा खड़ा किया करते हैं। मैं आपसे पूछती हूँ कि आप ही क्यों नहीं सभा की सदस्यता का त्याग-पत्र लिख भेजते। मीठा मीठा अपने लिए और कड़ुआ कड़ुआ घरवाली के लिए। आप तो चार-चार घंटे व्याख्यान देकर अपना नाम करें और मैं तनिक मंच पर खड़ी हुई कि भौंह सिकुड़ गई। अब हम लोगों के मौन-त्याग के दिन गए। अब आप ही लोग मौन-त्याग सीखिए और हमको नाम करने दीजिए।

रामचन्द्र—भाई, अगर मुझको कचहरी न जाना हो तो मैं सारा घर का काम अपने ऊपर ले लूँ, तुमसे ज़रा भी न बोलूँ।

परन्तु तुम दिन भर घर में बैठी रहती हो, तो भी सार्वजनिक काम से छुट्टी नहीं मिलती। मैं तो अपना काम पूरा करके सार्वजनिक कार्य करता हूँ। तुम अपना काम अधूरा ही क्यों छोड़ देती हो?

सुशीला—क्या ऐसे तुच्छ कार्यों के लिए ही मैं हूँ? क्या आफ़िस जाकर मैं नहीं कमा सकती और आप मेरी तरह घर में रहके घर का काम-काज नहीं सँभाल सकते?

रामचन्द्र—यह मैं चाहे तुम्हारे सङ्कोच से (मुस्कराकर) स्वीकार कर लूँ, परन्तु सिद्धान्त को देखते हुए यह बात अनुचित है। (गम्भीर होकर) भारतवर्ष का प्राचीन मत ही मुझे उचित जान पड़ता है। स्त्रियाँ कोमल कार्यों के लिए बनाई गई हैं। उनका काम है कि घर की रानी होके बैठें, पति चाहे बाहर किसी का नौकर ही क्यों न हो।

सुशीला—आप क्या मुझसे कम कोमल हैं? (हँसती है) आप ही कोमल कार्य कीजिए। चौखट के भीतर की रानी से बाहर घूमने वाला नौकर अच्छा है—रक्खे रहिए अपना रानीपन।

रामचन्द्र—मेरा मतलब यह था कि कमाने का कार्य कटु और कष्टदायक है। उस कार्य में लगकर मनुष्य को अत्यधिक प्रलोभनों के जाल में पड़ना पड़ता है। कठोर-प्रकृति मनुष्य उन प्रलोभनों में स्थिर नहीं रह सकते तो स्त्रियों की क्या गिनती (मुस्कुराता है)। इसीलिए भारतवासियों ने स्त्रियों को द्रव्योपार्जन के कार्य से पृथक् ही रखना ठीक समझा और वह भार लद्दू बैल बनाकर पुरुषों के ऊपर डाल दिया।

सुशीला—प्रलोभनों में स्थिर रहना तुम्हीं लोगों को तो आता है। (मुस्कुराकर) मुँह न खुलवाओ नहीं तो खरी खरी सुना दूँगी।

रामचन्द्र—अच्छा भाई, कष्टदायक कार्य था इसलिए तुम सुकुमार-शरीरों को नहीं सौंपा गया। बस ?

सुशीला—भाई कहते-कहते बहन न कह देना। तुम्हारा कौन ठीक ? (रामचन्द्र की ओर देखकर हँसती है)

रामचन्द्र—अच्छा, अब लिखना छोड़ो तो तुम्हें एक उपहार दूँ ?

सुशीला—कहीं से कुछ कौड़ियाँ पा गये हो क्या।

रामचन्द्र—कौड़ी नहीं—हीरा, लाल लाया हूँ। सच कहना तुम्हें लाल की साध है या नहीं (हँसते हैं)

सुशीला लजाकर चुप हो जाती है और साथ जाती है।

(२)

रामचन्द्र—देखो न जाने किसका लड़का था, मैंने घर लाकर तुम्हें सौंप दिया। तुम उसकी तनिक भी सेवा-सुश्रूषा नहीं करतीं। पहले तो इतनी प्रसन्न हुईं कि मानो नव निधि मिल गई। कैसा सुन्दर बच्चा है और तुम्हें उस पर तनिक भी दया नहीं। मैं तुम्हारी क़लम तोड़ डालूँगा, दावात पटक दूँगा। एक लड़के का पालन-पोषण लेख लिखकर नाम पैदा करने से कहीं बड़ा कार्य है। अब तो उसकी सेवा-सुश्रूषा में कमी नहीं होनी चाहिए।

सुशीला—यह मैं नहीं कहती कि उसकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करूँगी। अनाथ बालक के लिए कौन ऐसा कहेगा ? परन्तु तुम तो ऐसी बात करते हो जैसे वह मरा ही जाता हो।

रामचन्द्र—तुम जानती हो कि मैं उसको कितना प्यार करता हूँ। अब वह अनाथ बालक नहीं है, अपना बालक है। उसके हमीं

माता-पिता हैं। अब तुम यह सारी झंझट छोड़ कर उसका ध्यान रक्खा करो।

सुशीला—सुनो जी, झंझट छोड़ने को कहोगे तो मुझसे बनेगी नहीं। लिखना-पढ़ना झंझट है—व्याख्यान देना झंझट। जानते नहीं हो, बड़े से बड़ा मनुष्य नाम का ध्यान नहीं छोड़ता तो मैं क्या हूँ जो नाम से भागूँ। आप स्वयं तो नाम के पीछे पड़े रहते हैं। (मुस्कुराकर) मैं जानती हूँ कि तुम यह सोचते हो कि कहीं मेरे नाम से इसका नाम बढ़ न जाय। तुममें ईर्ष्या का भाव आ गया है, क्यों है न ?

रामचन्द्र—देखो दूसरे के भावों को इस प्रकार जान-बूझ कर परिवर्तित करना सभ्यता के विरुद्ध है। तुम्हारे परिहास में कुछ व्यंग की गन्ध आती है। अगर तुम सचमुच ऐसा समझती हो तो तुम्हारी भूल है। तुम्हारे नाम से मुझे जितना आनन्द होता है वह ईश्वर ही जानता है। मैं तुम्हें नाम करने के साथ मुख्य कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ देखना चाहता हूँ, इसीलिए ऐसा कहता हूँ।

सुशीला—देखिए, आनन्द ही मनुष्य का मुख्य ध्येय है। यश प्राप्त करने में जितना आनन्द होता है उतना और किसी बात में नहीं होता। इसलिए यश प्राप्त करना ही मनुष्य का प्रधान प्रलोभन होना चाहिये। तुम लोगों ने हमें इस कार्य से वञ्चित कर रक्खा था। अब यदि हमारी उस ओर अधिक प्रवृत्ति हो तो हमारा दोष नहीं। अच्छे कार्य के बिना नाम नहीं हो सकता, अतएव भले कार्य और यश-प्राप्ति की इच्छा पर्यायवाची मात्र हैं।

रामचन्द्र—यदि और कुछ न समझो तो कहूँ।

सुशीला—कहो।

रामचन्द्र—यश-प्राप्त करने में ही सबसे अधिक आनन्द है, यह बात मिथ्या है। मौन-सेवा-व्रत में उससे भी बढ़कर आनन्द है और उससे भी बढ़कर आनन्द है आत्मानुभव में—अपने को पहचानने में। मेरा दृढ़ मत है कि जो लोग यश-प्राप्ति के फेर में पड़ते हैं वे इन दोनों महत्तर और स्थायी आनन्दों से वञ्चित रहते हैं। (मुस्कराकर) स्त्री की ही बुद्धि तो ठहरी, तुम इन बातों को समझो क्या ?

सुशीला—पुरुष की बुद्धि बड़ी दूर की कौड़ी लाती है। पर लाती है कौड़ी ही—

रामचन्द्र—(हँसकर) बच्चे का ध्यान रखना।

(३)

रामचन्द्र—देखो तुमने उस अनाथ बच्चे को मार डाला जिसको तुम अपना नहीं समझती थीं। अच्छा ही हुआ। तुम्हारी असावधानी से वह बेचारा अशक्त और अशिक्षित ही निकलता। अब मुझे डर है कि इस अपने बच्चे को भी—

सुशीला—चुप भी रहो, अशुभ बात मुँह से न निकालो।

रामचन्द्र—(रुष्ट होकर) बात बनाना तुम्हें बहुत आता है। उसके लिए मन में प्रेम तनिक भी नहीं। तुम माता हो परन्तु माता का कार्य करना पड़ता है मुझे। आज निपटारा हो जाना चाहिए। या तो तुम्हीं कमाओ और मुझे उसकी सेवा-सुश्रूषा करने दो, अथवा तुम्हीं सेवा-सुश्रूषा करो और मुझे कमाने दो, दोनों काम मुझ से नहीं हो सकते। बेचारा बीमार है, उठकर एक गिलास पानी नहीं देते बनता। अब तुम किसी सभा में व्याख्यान देने गईं तो मुझसे न बनेगी। यह तुम्हारा लिखना-पढ़ना भी अब मुझसे

नहीं देखा जाता। मैं तो दिन भर आफिस का काम करूँ और रात को बच्चे की सेवा-सुश्रूषा करूँ और तुम बैठ कर मौज से अनाप-शनाप लिखा करो। मैंने जो तुमको स्वतन्त्रता दी उसका यह फल। कहती हो कि मुँह से अशुभ बात न निकालो, मगर अशुभ हो जायगा तब क्या करोगी। और मैं अशुभ बात थोड़े कहता हूँ। लड़का स्वयं कह रहा है—जरा चल कर सुनो तो—बेचारा कब से रो रहा है।

सुशीला—(चिन्तित होकर) अच्छा चलो।

[दोनों सुशीला की अध्ययन-शाला से उठ कर जिस कमरे में बीमार लड़का पड़ा है उसमें जाते हैं]

लड़का—अम्मा अब मैं नहीं जिऊँगा—

सुशीला—(आँख में आँसू भर कर) क्यों बेटा, ऐसा क्यों कहते हो?

लड़का—अम्मा, मैं जीकर क्या करूँगा?

सुशीला—बेटा, तुम्हें किस बात की कमी है?

लड़का—(सिसक सिसक कर रोता है और कहता है) नहीं अम्मा, अब मैं जीना नहीं चाहता, तुम मुझको प्यार नहीं करतीं।

[सुशीला के आँसू बहने लगते हैं और वह लड़के को उठाकर छाती से लगा लेती है]

सुशीला—सुनते हो।

रामचन्द्र—क्या—

(सुशीला लिखती है और रामचन्द्र को देती है)

सुशीला—यह लो, समाज-सुधार-सभा को मेरा त्याग-पत्र भेज दो।

रामचन्द्र—(त्याग-पत्र खोलकर धीरे धीरे पढ़ते हैं)

सभापति महोदय—

अभी तक मैं अन्धकार में थी। मैं समझती थी कि स्त्री-पुरुष की समता एक बड़ी ऊँची बात है। परन्तु आज एकाएक मुझे वह समता का सिद्धान्त बालकों का खेल प्रतीत हुआ। प्राचीन काल में भारतवासियों ने स्त्री पुरुष की समस्या इससे कहीं अधिक उचित रीति से सुलझाई थी। वे पुरुष को आधा अङ्ग और स्त्री को अर्धाङ्गिनी मानते थे। उन्होंने इस समता से कहीं उच्च वस्तु स्त्री-पुरुष की एकता का प्रचार किया था। उस एकता में एक दूसरे का जितना ध्यान रहता था वह इस समता में नहीं रह सकता। उसी सिद्धान्त के अनुसार स्त्री-पुरुष का मिला कर एक मत (वोट) होता है। मेरे पति सभा में हैं ही। उनके मत में मेरा मत सम्मिलित है। अतएव मैं यह त्याग-पत्र भेज रही हूँ। मैं आज से आप की सभा की सदस्या न रह सकूँगी।

वही

आधी रात बीत चुकी थी—अँधेरे में अपना ही हाथ नहीं सूझता था। जल तीव्र वेग से बरस रहा था। उसकी मनमोहनी ध्वनि सुनने वाले उस समय बहुत कम थे। सारा संसार निद्रामग्न था। इसी समय गाँव के बाहर एक कुटिया में एक दीपक टिमटिमा रहा था। तिली के तेल के दीपक की मन्द लौ को मानों अंधकार ग्रास बना लेना चाहता था। पर थी वह ज्योति ही। विरोधी कितना भी छोटा हो विरोधी का विरोध करता ही है।

इस कुटिया में दो व्यक्ति सो रहे थे। एक पुरुष और एक स्त्री, अथवा यों कहना चाहिये कि एक युवक और दूसरी युवती। पुरुष का भाल विशाल था, देह सुगठित, मुखाकृति भव्य, विस्तृत वक्ष-स्थल। स्त्री के सभी अंग साँचे में ढले मालूम होते थे। ब्रह्मचर्य का तेज दोनों के मुख पर दमक रहा था। उस दीपक की लौ से उन दोनों के अधखुले मुखमण्डल ही अधिक प्रकाशित थे। सहसा युवती जाग पड़ी। अलसाती हुई उठी और किवाड़ खोल दिये। जल वर्षा का मनोहर संगीत बाहर बुला रहा था। अंधकार आलिंगन के लिये हाथ पसारे हुये था। अपना शान्त वेश संसार के चंचल लोचनों में प्रवृष्ट करने के लिये अगणित दृश्य छिपाये हुये था। अंधकार आँखों के लिये कुछ-नहीं का विस्तार है, परन्तु उस कुछ नहीं में न जाने क्या हो। इसलिये कभी कभी मन में

यह कौतूहलमयी आकांक्षा होती है कि चल कर अंधकार में घूम आवें। युवती के हृदय में भी ऐसा ही कुछ हुआ। उसके हृदय के भीतर बड़ा अंधकार था और बड़ा प्रकाश था। इस समय वह कदाचित् अन्तःप्रकाश से ऊब कर वाह्य अंधकार में विचरण करना चाहती थी। आसपास की पग-पग भूमि उसकी चिरपरिचित थी। उसने एक मील पर एक टीले के नीचे एक जल-सुरक्षित कुञ्ज-कुटीर बना रक्खी थी। उसका जी चाहा कि इस समय उसी में चल कर जल-वर्षा का आनन्द उठावें। एक कोने से एक छाता उठाया और चल पड़ी।

\+ \+ \+ \+

कुटी के बाहर एक रव गूँज उठा। 'वही' सब कुछ है, उसकी लीला अपरम्पार है। वह सब कुछ करता है और कुछ नहीं करता। यही तो उसमें आश्चर्य की बात है, सच तो यह है, कि वह वही है, वही, मुझे इस जल वर्षा से रक्षा के लिये इस कुटी के द्वार पर लाया। वही—वही—वही—

भीतर सोने वाले की आँख खुल गई। अर्ध निद्रित और अर्ध-जागृत अवस्था में वह भी कह उठा, हाँ वही सब कुछ है। उसे भी स्वप्न में कोई उपदेश दे रहा था कि 'वही' सब कुछ है। उसके खेल निराले हैं। आँख खुलते ही उसे बाहर का स्वर सुनाई दिया। यह चिरपरिचित स्वर नहीं था कदाचित् पूर्वजन्म परिचित स्वर था या स्वप्न परिचित था। वह स्वर उसे खींच रहा था परन्तु उसके खींचने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता था। उसने आवाज़ दी, यह कुटी अतिथि का स्वागत करने के लिये सदैव उत्सुक रहती है; आप पधारिये।

एक साधु ने कुटी में प्रवेश किया। मुखमण्डल परिचित-सा भी जान पड़ता था और अपरिचित-सा भी। ऐसा ज्ञात होता था कि इसको कभी नहीं देखा है और यह भी समझ पड़ता था कि इसे प्रतिदिन देखते हैं। साधु को देखकर युवक ने कई बार मस्तक पर हाथ रख कर सोचा। अन्त में उसकी निद्रा-सी भङ्ग हुई। वह साधु को कुटी की एक दूसरी कोठरी में ले गया। वहाँ भी मीठे तेल के दीपक का मंद प्रकाश था। उस मन्द प्रकाश में मनुष्य की एक प्रस्तर-मूर्ति बनी हुई थी। ऐसा मालूम होता था मानों वह बोला ही चाहती है।

युवक साधु की ओर ध्यान से देख रहा था। साधु के मुख पर केवल मुस्कुराहट आई। वहाँ आश्चर्य का कोई चिन्ह नहीं था। साधु ने कहा—चेहरा मुझ से बहुत कुछ मिलता जुलता है मगर तिस पर भी बहुत भेद है। संसार में इससे भी अधिक समानता हो सकती है। आप इतने ही में आश्चर्य क्यों कर रहे हैं। युवक का सन्देह दूर हो गया।

साधु ने कहा—चलिये पहले वाली कोठरी में चलें। यहाँ पानी बरसने की आवाज़ उतनी नहीं सुनाई देती। दोनों उसी कोठरी में चले आये, बैठ गये। जब साधु सुस्ता चुके तो उन्होंने युवक से पूछा—आप इस निर्जन स्थान में एक कुटी बनाये क्यों पड़े हैं? और इस प्रस्तर-मूर्ति का क्या रहस्य है?

युवक ने निस्तेज नेत्रों से साधु की ओर देखते हुये कहा—महाराज यह लम्बी कथा है, दुख कथा है और सुख कथा है—क्या आप इसे सुनियेगा?

साधु ने कहा—हाँ सुनूँगा क्यों नहीं।

युवक—महाराज आप तो संसार से विरक्त हैं, आपको संसारिक क्षुद्र मनुष्यों की कथा कैसे रोचक होगी ?

साधु ने एक लम्बी सांस ली। युवक ने समझा कि कदाचित् कुछ सहानुभूति मिले। अतएव उसने अपनी कहानी यों आरम्भ की—

महाराज कैसे कहूँ ? परन्तु कहता हूँ। आप अपरिचित हैं परन्तु आप की ओर मैं आकर्षित हो रहा हूँ। अपना सारा दुख-सुख आप से कह दूँगा।

कई वर्ष हुये मेरा विवाह हुआ। एक अपरिचित स्थान से एक अपरिचित मुग्धा का मैं पाणिग्रहण कर लाया।

सौभाग्य-रात्रि की उमंगमय घड़ी थी।........यह सब जाने दीजिये। जिस समय मैंने अपनी धर्मपत्नी का घूँघट खोला उस समय उसका मुख आँसुओं से भीगा हुआ पाया। मुझे उसी समय शंका हुई। मैंने घूँघट तुरन्त छोड़ दिया। उससे कुछ पूछा भी नहीं। भला वह लड़की अपने हृदय की बात उस समय क्या बतला सकती थी। कई महीने बीत गये, मुझसे उससे बात चीत न हुई। हम लोग एक चक्रवाक युग के समान थे। बातचीत करना भी कठिन था। रात्रि के समय एक कमरे के पिंजरे में बल-पूर्वक बन्द कर दिये जाते थे। इसी तरह साल भर बीत गया। अब कुछ-कुछ बातचीत होने लगी थी। पर अब भी वह समय नहीं आया था कि वह खुलकर अपने हृदय का हाल कहती। इतना अवश्य मालूम होता था कि वह मुझसे सन्तुष्ट है, मेरे व्यवहार से प्रसन्न है। मुझ में उसकी भक्ति हो चली थी।

धीरे धीरे मैंने उससे प्रश्न करना आरम्भ किया, वह मुझ से

दूर से बातचीत करती थी। अलग-अलग रहकर मेरी सेवा करती थी। जब मैं उसे बहुत पास आने पर भी स्पर्श करने की चेष्टा न करता था, तब वह कृतज्ञता से मेरी ओर देखती थी। मेरे कुछ भी समझ में न आता था। यह उल्टा व्यवहार क्यों? मैं कारण की बहुत कल्पना करता था। कभी यह कभी वह, पर कुछ ठीक न कर पाता था। साथ ही जितना ही अलग मुझे उससे उसकी तृप्ति के लिये रहना पड़ता था उतना ही अधिक मैं उसकी ओर खिँचा जा रहा था। जब मैं समौन भाव से शय्या पर जा बैठता था तब वह भी एक दरी और कम्बल बिछाकर भूमि पर बैठ रहती थी। हँसती थी, मुस्कुराती थी, बातचीत करती थी। पर जब वह मेरी अधिक निकट होने की चेष्टा देखती थी तो उसके चेहरे का रंग उड़ जाता था और मैं सहम जाता था। वह मुझे पान देती थी और मैं उसके सन्तोष के लिये इस प्रकार लेता था कि मेरा हाथ उसके हाथ में छू न जाय। मेरे इस कृत्य पर उसकी आँखों से कभी-कभी मोद के अश्रु निकल पड़ते थे। परन्तु मेरा बुरा हाल था। चन्द्रमुख सामने रहता था और मैं उसे चाव से देख नहीं सकता था, इस डर से कि कहीं उसका दिल न दुख जाय। पान देने के समय मुख-श्वास की सुगन्ध मुझको छू जाती थी और मैं मन मार कर रह जाता था। मेरे हृदय का दाह दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता था। साल भर के भूखे के सामने अच्छे सुस्वादु भोजनों का थाल हो और हाथ बँधे हों तो उसके ऊपर कैसी बीतेगी?

मदनदेव मेरे ऊपर विशेष अत्याचार करने लगे, मुझे जीवन असह्य हो उठा।

एक दिन की बात है कि मुझसे न रहा गया। मैंने उससे पूछा—क्या कारण है कि तुम मुझसे इस प्रकार अलग-अलग

रहती हो; मैं अपने ही घर में परदेशी क्यों हो रहा हूँ ? उसने बहुत टालमटोल किया परन्तु मैं बराबर अनुरोध करता गया। अन्त में मेरी आँखों में आँसू देख कर उसने कहा—"मैं आपके योग्य नहीं हूँ।"

हृदय में मानों सैकड़ों बिच्छुओं ने एक साथ डंक मार दिये हों। मैं आँख मूँद कर पलँग पर लेट गया। सोचने लगा कि इस उत्तर का क्या अर्थ है। मेरे मस्तिष्क में चक्कर आने लगा। सम्भावनाओं ने मेरे भीतर एक बवंडर पैदा कर दिया।

कुछ दिन बीत गये। एक दिन मैंने पुनः कहा तुम अपनी कहानी खुल कर कहो, चाहे जो कुछ हो, कह डालो—मैं क्रोध नहीं करूँगा।

वह—पर आपको कष्ट होगा।

मैं—न सुनने से दुबिधा का जो कष्ट है वह और भी असह्य है।

उसने एक लम्बी साँस ली। फिर उसके शरीर में जितनी शक्ति थी उस सब को एकत्रित करके—अपने सारे धैर्य को उपयोग में लाकर उसने कहा—"मैं अपना हृदय किसी और को अर्पण कर चुकी हूँ।"

इस कारण का मैं कभी अनुमान नहीं कर सका था। मैं समझता था किसी कारण से मेरे स्पर्श से वह दुखी होती है या उसके दुखी होने की सम्भावना है, फिर यह सोचता था कि यदि मुझसे अलग-अलग रहने में ही उसे सुख है तो मैं उसे क्यों दुखी करूँ। अतएव मुझ पर वज्रपात होगया। मैं अचेत सा होकर शय्या पर गिर पड़ा। हृदय के किसी कोने में यह आशा क्षीण भाव से बनी रहती थी कि किसी न किसी दिन मिलन होगा पर वह आशा आज जाती रही।

उसने पंखा झलना आरम्भ किया। जब मैं उठ कर बैठा तो उसने रोते हुये कहा। आप आदमी नहीं देवता हैं। आपने अब तक मेरी पवित्रता की रक्षा की है। कितना बड़ा उपकार आपने मुझ पर किया है, यह आप नहीं जानते। परन्तु मुझे आपका कष्ट—अपने उपकारक का कष्ट असह्य हो रहा है। शरीर को नष्ट करना हो तो मैं आपके लिये नष्ट कर सकती हूँ परन्तु भ्रष्ट नहीं कर सकती। आपने मुझे इतने दिन जीने दिया इसलिये मैं आपको जितना धन्यवाद दूँ कम है। नहीं तो अब तक मैं इस हीरे की जड़ी अँगूठी को चाट कर प्राण देदेती—हाँ शरीर भ्रष्ट होने के पहले प्राण देदेती। परन्तु आपने मुझे जिलाया। जीवन का मोह भी कितना प्रबल होता है। जितने दिन हो सके मनुष्य जीना चाहता है। मैं आपके हृदय का भाव समझती हूँ। आप को मुझ से प्रेम है, इसलिये मैं जब तक जीती रहूँगी मुझे देख देख कर आप घुला करेंगे, अतएव मेरा मरना ही उचित है।

ऐसी पवित्रता की बातें सुन कर मुझ में नवजीवन का संचार हुआ। मुझे अपने चरित्रपर—अपने संयमपर घमंड था, परन्तु सम्मुख पवित्रता की उस ज्वलन्त मूर्ति को देखकर मैं अवाक् हो गया। मैं समझ गया कि पवित्रता की बलिवेदी पर एक देवी ने अपना बलिदान किया है। मैं समझ गया कि हृदय समर्पण और शरीर समर्पण में बड़ा भेद है।

मैंने उससे प्रश्न किया—"वे कौन भाग्यवान हैं?"

वह—यह मैं नहीं जानती। कोई एक दिन एक चित्र मेरे कमरे में डाल गया था। उसी चित्र पर मैं मुग्ध हुई थी और उसी को हृदय अर्पण करके मन ही मन वरण किया था। मैंने नहीं किया, वैसा आप ही आप हो गया था। परन्तु······

मैं—बस मैं समझ गया। तुम्हारी उच्च शिक्षा का—तुम्हारे उच्च चरित्र का जितना वर्णन मैं सुन चुका था उससे कहीं अधिक मैंने पाया। परन्तु यदि वह चित्र काल्पनिक हो तो।

वह—ऐसा नहीं हो सकता। मेरा विश्वास है कि जिसका वह चित्र था उसी ने उसको मेरे कमरे में डाल दिया था। और यदि वह काल्पनिक भी होगा तो जन्मान्तर में सच्चे मनुष्य का चित्र बन सकता है।

यह तर्क सुनकर मैं फिर अवाक रह गया। उस आश्चर्य-जनक लड़की को मैंने सिर से पैर तक देखा और अपने को उसके अयोग्य समझा।

मुझ में सद्भाव जागृत होने लगे। कामदेव को मैंने संयम की कठोर शिला पर पटक दिया, बेचारे के कोमल कुसुम-धनुष और सुमन-शर टूट-फूट गये। मैंने उससे कहा—

देवी, क्षमा करो आज से मैं तुम्हें बहन समझूँगा। देखने के लिये—कहने के लिये वही संबंध रहेगा जिसमें हम लोग बल पूर्वक जकड़ दिये गये हैं, परन्तु अन्तरंग से तुम मेरी परम पूज-नीय बहन हो। क्या वह तस्वीर तुम्हारे पास है?

उसने मुझे तस्वीर दे दी।

मैंने उस तस्वीर को एक परम पटु मूर्तिकार को दिया। उसने यही मूर्ति स्थापित की जो अभी आपने देखी है। जब से यह मूर्ति इस कुटिया में बनी है तब से वह इसी में रह कर उसकी पूजा किया करती है और उसके पहले ही से मैं उसकी पूजा करने लगा था। हम लोगों ने आजन्म ब्रह्मचर्य और लोक-सेवा का व्रत धारण किया है।

इतने ही में जो युवती कुटी के बाहर हवाखाने गई थी वह आ गई। युवक ने कहा—यह वही है।

साधू ने अपना सोंटा उठाया और बिना कुछ कहे सुने वहाँ से चलता हुआ।

युवती अवाक खड़ी हुई यह देख रही थी।

युवती मुझे उस मूर्ति की कोठरी में ले गई और उसी की ओर उँगुली उठा कर कहा "वही"।

परिवर्तन

मिस्टर विजयकृष्ण गोरखपुर में डिप्टी कलेक्टर थे। उनका सरकार में बड़ा मान था। वे बिलकुल साहबों के ढङ्ग से रहते थे। विदेशी वस्त्रों और वस्तुओं का व्यवहार करते थे। उनकी बी० ए० पास धर्मपत्नी शीला देवी इन बातों में उनसे दो क़दम आगे थीं। उनके सुगठित स्वर्ण-कान्ति मनोहर शरीर को बहुमूल्य विदेशी वस्त्र अलंकृत किए रहते थे। स्वयंसेवक उनके यहाँ जाते, उनसे विदेशी वस्त्रों के वहिष्कार करने की प्रार्थना करते, जो वे नाहीं करतीं, तो उनसे बहस करते, परन्तु बहस में हार कर लौटते। उनके हास्य-प्रवाह में ही स्वयंसेवकों के सारे तर्क बह जाते थे। वे जब भ्रू-युगल क्रोध से कुञ्चित करके कहतीं कि तुम लोग बहक रहे हो, अण्ड-बण्ड बकते हो तब बेचारे निरुत्तर हो जाते थे। नवयुवक स्वयंसेवकों पर उनकी कम से कम इतनी कृपा थी कि जब वे आते तो वे उनसे मिलतीं और बातचीत करती थीं। ग़रीब स्वयंसेवक इसी को अपना अहोभाग्य समझते थे—कहते थे कि देखो कितनी सज्जनता है। वे समझते थे कि उनमें इतना तर्क-बल और आत्म-बल नहीं है कि वे ऐसी सहृदय महिला को ठीक राह पर ला सकें। वे उन्हें दोष न देते थे। उन्होंने शीला देवी को बार-बार राह पर लाना चाहा, पर वे सफल न हुए। एक दिन स्वयंसेवकों के नायक श्रीयुत राधारमण जी ने कहा—ऐसे काम नहीं चलेगा, उनको एक बार फिर समझाना होगा और तब

भी न मानें, तो उनके यहाँ धरना देना होगा। वे सहृदय तो अवश्य हैं, पर कदाचित उन्हें सुन्दर वस्त्रों और वस्तुओं से इतना प्रेम है कि वे उन्हें छोड़ नहीं सकतीं ! शायद वे यह भी सोचती हैं कि स्वदेशी वस्त्र और वस्तुओं का व्यवहार करने से सरकार की उनके पति के ऊपर वक्र-दृष्टि हो जावेगी।

\+ \+ \+ \+

राधारमण—हम आपसे फिर प्रार्थना करने आए हैं कि आप विदेशी वस्त्र पहनना छोड़ दें। हम लोगों पर कृपा होगी—देश का लाभ होगा।

शीला देवी—यह तो बताओ कि जो विदेशी माल देश में आ गया है, उसके उपयोग में आने से क्या हानि होगी ? उसे नष्ट करना तो मूर्खता मात्र है। आप लोग प्रयत्न करें कि विदेशी माल भारत में न आने पावे, तब मैं कहाँ से खरीदूँगी।

राधा०—आपसे हम बहस नहीं करते, इतना ही कहते हैं, कि आपके समान विदुषी, प्रतिष्ठित एवं सहृदय देवी के शरीर पर विदेशी वस्त्र देख कर हमें अपार दुःख होता है।

शीला०—मुझे भी विदेशी वस्त्रों को त्याग करने में दुख होता है। भाई, इन उपायों से स्वराज्य नहीं मिलेगा। या तो इतने शक्तिशाली बनो कि सरकार तुम्हें स्वयं स्वराज्य दे दे, नहीं तो विनती करो और प्रतीक्षा करो।

राधा०—देवी जी, विनती और प्रतीक्षा व्यर्थ है, हम जानते हैं केवल जान देना, इसी से हमें स्वराज्य मिलेगा।

शीला०—मेरा ऐसा विश्वास नहीं है।

राधा—तब भी आपको हमारा अनुरोध मानना ही पड़ेगा।

शीला०—तुम अहिंसा-व्रती हो, किसी से उसके विश्वास के विरुद्ध कर्म करा के उसे दुख देना क्या अहिंसा है ? सरकार से लड़ने का उद्देश्य बतलाने में अधिक भय है, इसीसे अपना उद्देश्य जान देना बतलाते हो।

राधा०—हम तो पहले ही से कह चुके हैं, कि हम आप से बहस नहीं कर सकते। इन बातों का जवाब तो हमारे पूज्य नेता देंगे। हमारा काम तो है उनकी आज्ञा का पालन करना। हम तो आप से यही प्रार्थना करने आए हैं कि विदेशी वस्त्र या तो रख दीजिये या जला दीजिये।

शीला०—मैं ऐसा नहीं कर सकती, यदि आप लोगों को हठ है, तो मुझे भी हठ है।

राधा०—तब कल यदि आप विदेशी वस्त्र पहन कर निकलेंगी, तो चाहे जिस द्वार से आप निकलें, आप को हम लोगों की देह कुचल कर चलना होगा।

शीला०—यह तुम्हारा अन्याय है—तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।

राधा०—चाहे जो समझिए, ऐसा ही होगा।

शीला०—फिर आप की देह पर चलने में मेरा कोई दोष न समझा जाना चाहिए, यद्यपि ऐसा करने में मुझे अत्यन्त क्लेश होगा।

राधा०—हम यही चाहते हैं कि आप को इस प्रकार का अत्यन्त क्लेश हो और हमारे शरीर देश के काम आवें।

\+ \+ \+ \+

दूसरा दिन

जाड़े की ऋतु, सवेरे का समय था। अपना स्वर्ण-प्रकाश लेकर अभी उषा का आगमन नहीं हुआ था। आँखों से होकर हृदय में भी रात्रि का अन्धकार व्याप्त था। वह शीला देवी के हृदय में सबल अधिकार जमाए हुए था। उनके समझ में न आता था कि क्या करना चाहिये। उनके पतिदेव दौरे पर थे और यहाँ यह काण्ड उपस्थित था। कुछ भी हो, रमणी के लिए शरीर कुचलते हुए चलना कठिन बात थी, परन्तु घूमने जाना भी अनिवार्य था। सम्पन्न लोगों के नित्य-नियम में अन्तर नहीं पड़ता, चाहे दुनिया उलट जावे। उन्होंने सोचा—कितने दिन घूमने न जाऊँगी। साहस से ही काम लेना ठीक है। अपनी बात से हटना व्यर्थ है। उजाला होने लगा। उन्होंने कपड़े पहने—वही बहुमूल्य, सुहावने, परन्तु परतन्त्रता के पाश विदेशी वस्त्र! परन्तु चलने के समय उनके हृदय में पीड़ा होने लगी। स्वयंसेवकों के शरीर पर होकर जाना होगा। उन्होंने अपने हृदय को दृढ़ किया। सोचा, कोई बात नहीं है, मैं जाऊँगी—उन्हें कोई क्षति न पहुँचेगी। उन्होंने द्वार खोल दिया। उषा का प्रकाश फैल चुका था। सबेरे के जाड़े में ठिठुरते हुए स्वयंसेवक बँगले के दरवाजों के सामने लेटे हुए थे। उनमें से बहुत तो बड़े ऊँचे घरानों के थे, उनका मुख भव्य था; मानों कुछ कमल के फूल तोड़ कर धूल में डाल दिए गए हों! एक द्वार से कुछ दूर उनकी लैण्डो तैयार खड़ी थी। उसके और दरवाजे के बीच में चार स्वयंसेवक लेटे हुए थे। उनका शरीर कङ्कड़ों पर था; ऊपर से ओस गिर रही थी। शीला देवी के मन ने कहा—"भारत के लालों की आज यह दशा"—परन्तु उन्होंने उसको बोलने न दिया, उसका दमन किया। इतने में दो चपरासी

आ गए और स्वयंसेवकों को डाटने लगीं। उन्होंने उच्च स्वर से 'महात्मा गांधी की जय' बोली। उस स्वर को सुन कर शीलादेवी के नेत्र सजल हो गए—हृदय काँप गया। उन्होंने चपरासियों को मना कर दिया। अपना ऊँची एड़ी वाला जूता उतार दिया। वे धीरे-धीरे स्वयंसेवकों पर चलने लगीं। महात्मा गाँधी की जय-ध्वनि गूँजने लगी। वे कई बार कम्पित हुईं, पर स्वयंसेवकों के उस पार निकल ही गईं। दूसरे स्वयंसेवक सामने लेटना ही चाहते थे, परन्तु राधारमण ने मना कर दिया। कहा—इतना ही बहुत है, देखते नहीं, आँखों में आँसू हैं, पैर काँप रहे हैं।

स्वयंसेवक उठे और 'महात्मा गाँधी की जय' बोलते हुए चले गए। शीला देवी बहुत उदास होकर लैण्डो पर सवार हुईं। वह तेजी से चल पड़ी। थोड़ी दूर जाने के बाद उन्होंने दूर से देखा कि एक स्त्री नग्नप्राय सर्दी से ठिठुर रही है। उन्होंने कोचवान से गाड़ी उसी ओर ले चलने को कहा। वे शीघ्र ही उस स्त्री के पास जा पहुँचीं। उसने उन्हें देख कर हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। उन्होंने उत्तर दिया और कहा—तुम्हारे पास कपड़ा नहीं है क्या?

भिखा०—नहीं सर्कार!

शीला०—मैं कपड़ा मँगा दूँ?

भिखा०—"आप देवी हैं"—उसके आँखों में आनन्द के अश्रु आ गए।

शीला देवी ने लैण्डो के पीछे खड़े हुए चपरासियों में से एक से कहा—"दौड़ते जाओ और एक ऊनी साड़ी ले आओ।" सिपाही दौड़ता हुआ चला गया। भिखारिणी ने शीला देवी के पैर छूना चाहा, परन्तु उन्होंने मना कर दिया।

कुछ देर में चपरासी लौट आया। इस साड़ी को दूर से देख कर भिखारिणी प्रसन्न हो रही थी, परन्तु जब साड़ी निकट लाई गई तब उसने हताश होकर कहा—यह साड़ी विदेशी है, मेरे काम की नहीं है।

शीला को क्रोध आ गया। वे उत्तेजित होकर बोलीं—नङ्गी रहोगी, मगर विदेशी साड़ी नहीं पहनोगी ?

भिखारिणी ने भूमि पर सिर धरते हुए कहा—आप क्रोध न कीजिये, विदेशी कपड़ा चलने के कारण ही हमारा नाश हुआ है।

शीला देवी ने समझा कि इसमें कुछ भेद है, उन्होंने कुछ शान्त होकर कहा—तुम्हारी यह हालत कैसे हुई ?

भिखा०—सरकार, मैं जुलाहिन हूँ, मेरे घर में कभी ढाके का मलमल बनता था। हजारों रु० माहवार की आमदनी थी। इसी विदेशी कपड़े के चल जाने से हमारा घर बिगड़ गया। धीरे-धीरे यह दशा हो गई कि आज मैं भिखारिणी हूँ—नङ्गी फिरती हूँ।

शीला देवी की आँखों में आँसू आ गए। उनकी अन्तरङ्ग आँखों पर से एक परदा हट गया। उन्होंने एक चपरासी से कहा—इसे एक दस रुपए का नोट दे दो।

चपरासी ने दे दिया। भिखारिणी पैर छूने लगी। शीला देवी की आँखों से उसके सिर पर दो गर्म बूँदें टपक पड़ीं !

\+ + + +

लैण्डो लौट चली। बँगले पर पहुँच कर शीला देवी ने राधा-रमण को बुलाया।

राधारमण ने आकर कहा—क्या आज्ञा है ?

शीला देवी ने मुस्कुरा कर कहा—एक खद्दर की साड़ी मुझे देकर, उसके बदले में मेरे यहाँ के सारे विदेशी कपड़े ले जाओ।

राधारमण ने समझा कि युक्ति काम कर गई। उन्होंने गाँधी जी की जय बोली और घर की ओर दौड़े।

जब शीला देवी के पतिदेव घर लौटे, तो उनके आश्चर्य की सीमा न थी; उनका घर स्वदेशी-भण्डार हो रहा था। उन्होंने घबरा कर शीला देवी से पूछा—आख़िर मामला क्या है?

शीलादेवी का मुख तेज से दमक रहा था। उन्होंने उत्साह-पूर्वक कहा—कुछ नहीं, सब ठीक है, तुम आज ही से 'स्वदेशी' का व्रत लो और यदि तुम्हारे उच्च पदाधिकारी ज़रा भी मीन-मेख़ निकालें तो फ़ौरन इस सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दो। खाने को ईश्वर देगा। तुम्हें कोई कमी न रहेगी—यह मेरी आन्तरिक धारणा है! जब कि देश के इतने बड़े-बड़े पूज्य नेताओं ने स्वतंत्रता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है तो क्या भारतीय होने के नाते हम इतना भी नहीं कर सकते? शीलादेवी के पति ने उन्हें गले लगाकर कहा—प्रिये ऐसा ही होगा। मुझे तो केवल तुम्हारा ख़्याल था—जब तुम्हीं स्वदेशी का व्रत ले चुकी हो तो मैं तुमसे भिन्न कैसे रह सकता हूँ।

राधारमण ने कुछ देर पश्चात वहाँ आकर देखा—दोनों ही के नेत्र भरे थे—मानो वे कातर होकर क्षमा की प्रार्थना कर रहे थे।

चोर

१

कमला एक बड़ी सम्पत्ति की एक-मात्र उत्तराधिकारिणी थी। उसके संचालन के भार को वह धैर्य पूर्वक ग्रहण किये हुये थी। उसका कोमल मन इस कठोर भार से विचलित नहीं होता था। उसको लोग रानी कह कर सम्बोधन करते थे।

नरेन्द्र बाबू ने इस सुकुमार बाला को बड़े यत्न से पाला था। वे कली को कुसुम के रूप में न देख सके थे। मरने के समय उन्होंने अपने दीवान साहब और मुख्य कार्य-कर्त्ताओं को उसे सौंप दिया था। उन लोगों की भावी स्वामिनी कुछ दिनों तक उनके अधीन थी। नरेन्द्र बाबू को मनुष्य-चरित्र का बहुत अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अपने जीवन में कभी भी मनुष्य के चरित्र के विषय में धोखा नहीं खाया था। उन्हें निश्चय था कि उनके दीवान साहब और अन्य कार्यकर्त्ताओं से उनकी सन्तान का कोई अनिष्ट न होगा। वे कहा करतेथे कि विश्वस्त भृत्य नातेदारों से कहीं अच्छे होते हैं।

उन्होंने कमला का वर-निर्वाचन उसी पर छोड़ दिया था। उन्होंने समझा था कि और किसी पर यह भार रखने से अनर्थ हो सकता है। इसी से उन्होंने सामाजिक रूढ़ि और लोगों के हँसने की कोई परवाह नहीं की थी। कमला बहुधा उपन्यास पढ़ा

करती थी। उपन्यास पढ़ने का बाल्यावस्था में विचित्र प्रभाव पड़ता है। कमला उपन्यासों में पढ़ा करती थी कि कन्याओं को प्रेमी अचानक मिलते हैं। अतएव उसके मन में कभी कभी एक ऐसी भावना उत्पन्न होती थी जिसे वह लज्जावश अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा स्पष्ट रूप से चित्रित भी नहीं कर सकती थी। वह इसके आगे भी बढ़ जाती थी। कभी कभी सोचती कि कहीं उसे देख कर कोई उस पर मुग्ध तो नहीं है, कोई उसके लिये कष्ट तो नहीं सह रहा है—

इन विचारों का उसके ऊपर विचित्र प्रभाव पड़ता था। वह मन में कहती कि यदि सचमुच उसके लिये कोई कष्ट सह रहा हो तो! वह कैसे जानेगी कि वह कौन है? वह उसे क्योंकर देख पड़ेगा—उससे उसका किस प्रकार संयोग होगा? यद्यपि अवकाश के समय उसमें ऐसे ही निठल्ले विचारों का प्राधान्य रहता था तो भी यह न सोचना चाहिये कि वह स्वयं कल्पना प्रधान थी। वह कारोबार में अपने स्वर्गीय पिता के समान ही दक्ष थी। वह वीर थी, उसे शस्त्र-शिक्षा भी मिली थी।

दफ़्तर का कोई विभाग नहीं था जो उसकी दृष्टि से बाहर रहता हो, कम कर्मचारी थे जिनका चरित्र वह अच्छी तरह से न समझती हो। अवस्था प्राप्त होने के थोड़े समय बाद ही उसने सारा कार्य अपनी मुट्ठी में कर लिया था। दीवान साहब उसकी कार्य-दक्षता पर बड़े प्रसन्न थे।

२

बात बड़ी विचित्र थी। कार्यालय में कभी ऐसा नहीं हुआ था। कमला चिन्तित भाव से बैठी थी। इसी समय उसकी मुख्य परिचारिका ने कार्यालय के एक लेखक (क्लर्क) के आने की

सूचना दी और कहा कि वह सर्कार की सेवा में कुछ निवेदन करना चाहता है। कमला ने उसे भीतर लाने की आज्ञा दी। उसने भीतर आकर यथाविधि अभिवादन किया। कमला को उसे देख कर आश्चर्य हुआ। ऐसी आकृति का ऐसे सुचिन्हों से पूर्ण नव-युवक किसी कार्यालय में एक साधारण लेखक (क्लर्क) है–यह बात यदि उससे कोई कहता तो उसे उस पर कभी विश्वास न होता। क्लर्क का मुख उदास नहीं पर गंभीर अवश्य था। ऊंचा माथा, भव्य आकृति, तेजयुत गौर वर्ण,—और कहाँ तक कहें–विशाल बाहु, साधारण नहीं राजसी चिन्ह थे। कमला ने क्षणभर के लिये समझा—किसी महाराजाधिराज का क्लर्क अर्थात् प्राइवेट सेक्रेटरी है या मेरे आफ़िस का क्लर्क। क्लर्क के चेहरे पर कुछ थकावट के चिन्ह थे। न जाने क्यों उस थकावट पर कमला को तरस आया–दुख हुआ। धनाभाव ऐसे पैरों को भी इतनी दूर पैदल चला सकता है यह आज उसकी समझ में आया। उसने क्लर्क को बैठ कर सुस्ताने को कहा परन्तु वह न बैठा। उसने कमला के सामने मेज़ पर एक लिफ़ाफ़ा रख दिया। ज्ञात होता था कि इस समय उसके अन्तरंग में कुछ हलचल थी और उसे इसका डर था कि जिस निर्णय पर वह पहुँचा है वह उसे कुछ क्षति न पहुँचावे। यह बात कमला से छिपी न रही। उसने उत्सुकता से लिफ़ाफ़ा खोला। कागजों को बाहर निकाला और गिना। सौ सौ रुपये के दस नोट थे। कमला को कुछ क्षोभ हुआ और कुछ आश्चर्य। उसने कुछ कड़े स्वर में कहा—

"क्या यह वही रुपये हैं जो उस दिन चोरी गये थे"।

"जी, हाँ, सर्कार," मालूम होता था कि सर्कार शब्द उस क्लर्क के मुख से बड़े प्रयत्न से निकल सका था।

"इन्हें तुमने कहाँ पाया ?"

क्लर्क चुप रहा।

"क्या तुम्हीं ने इन्हें चुराया था ?"

क्लर्क ने कमला की ओर देखा। कमला ने इस पर ध्यान दिया हो या न दिया हो पर उसकी आँखों में करुणा के बदले निर्भीकता थी।

"किस प्रकार चुराया था ?"

"सर्कार, खजानची साहब को ये नोट किसी ने दिये थे। उन्होंने इनको मेज़ की दराज़ में रख दिया। कमरे में उस समय कोई नहीं था। चपरासी को उन्होंने कहीं भेज दिया था। संयोग वश वे भी उठ कर बाहर चले गये। मैं अपने कमरे से यह सब देख रहा था—"

"बस फिर क्या था, तुमने मार दिया हाथ ?"

क्लर्क चुप रहा।

कमला के शब्दों में व्यंग था पर क्लर्क का स्वर भय से कंपित नहीं था। न उस व्यंग के बाद ही हुआ। कमला का ध्यान इस बात पर गया। कमला ने ऐसा विचित्र चोर कभी नहीं देखा था।

कमला ने फिर पूछा, "आख़िर तुमने ऐसा क्यों किया। शराब पीते हो या जुआ खेलते हो ?"

दोनों प्रश्नों पर क्लर्क ने क्रमशः निषेध-सूचक शिर हिलाया।

कमला ने कहा—"कुछ समझ में नहीं आता। एक बार मैंने एक चोर पिता जी के सामने आते देखा था। तुममें उसमें पृथ्वी आकाश का अन्तर है। पिता जी ने उसे जेल भिजवाया था। मगर

मैं तुम्हारे साथ क्या बरताव करूँ। तुमने अपराध स्वीकार कर लिया, रुपया भी लौटा दिया और ऐसा करके अपना भविष्य अपने आप नष्ट कर लिया—"

और क्लर्क की शान्त निर्भय चितवन की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुये कमला ने मेज़ पर हाथ पटक कर कहा—और बड़ी आफ़त तो यह है कि तुम चोर ऐसे मालूम नहीं होते, फिर भी चोर हो।"

यह बात सच थी। क्लर्क की वेष-भूषा, आँखें, बरताव, रंग ढंग, आदि ऐसे ही थे—वह बड़े कुल का जान पड़ता था। चोर शब्द-उच्चारण उसकी शान के आगे तुच्छ-सा प्रतीत होता हुआ अपने आप नीरवता में लीन हुआ जाता था।

कमला ने फिर कहा—"मानलो किसी दूसरे पर संदेह हो जाता, तो तुम्हारे सबब से एक निरपराध आदमी व्यर्थ ही मारा जाता।"

"नहीं।" उत्तर निकला तो धीरे से पर था पूर्ण निश्चय का द्योतक।

कमला—"इस नहीं का क्या अर्थ?"

क्लर्क—"सर्कार, जिस क्षण से मेरे हाथ में रुपया आया उसके दूसरे ही क्षण से मैं सोच रहा था कि मैं उसे कैसे लौटाऊँ। मैं इन नोटों को डाक से गुम-नाम भेज सकता था, पर मैंने वह भी उचित नहीं समझा। तब क्या आप आशा कर सकती हैं कि अपने बदले किसी दूसरे का फँसना मैं सहन कर सकता?"

बात के कहने के ढँग में इतनी सज्जनता, इतना माधुर्य और कुछ ऐसी बात थी कि कमला मुग्ध रह गई।

कमला—" ख़ैर, मैं यह मामला पुलिस के सिपुर्द नहीं करूँगी। रही तुम्हारी नौकरी की बात। तो क्या तुम आशा करते थे कि उसमें भी कुछ विघ्न न आवेगा। "

क्लर्क—" मैं कुछ आशा नहीं करता था, मैं बिलकुल सर्कार के हाथ में हूँ। मैंने किसी आशा से नहीं वरन लज्जा के मारे ही यह आत्म समर्पण किया है, आप चाहे जो करें " इतना कहते समय क्लर्क के चेहरे पर मानसिक उथल-पुथल के लक्षण प्रकट हो गये थे।

कमला—" हाँ, तुम मेरे हाथ में हो तो। चाहूँ तो तुम्हें नष्ट कर सकती हूँ। पर क्या मैं आशा करूँ कि तुम सुधर भी सकते हो ? मालूम होता है तुम किसी बड़े प्राचीन ऊँचे खानदान के हो। दिनों के फेर से तुम्हें ऐसी नौकरी करनी पड़ी। कहावत है

'बढ़त-बढ़त सम्पति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय,

घटत-घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाय।'

कदाचित घोर आर्थिक कष्ट से, परिवर्त्तन की असाधारण विषमता से तुम्हारे जीवन में एक ऐसा क्षण भी आ गया कि तुमने ऐसा कर डाला। परन्तु तुम्हारे रोम रोम से बड़प्पन टपकता है। चेहरे पर बुद्धि का प्रकाश है। तुम अभी कम उमर हो, अगर आगे तुम्हारे ईमान में फरक़ न आवे तो अपना भविष्य बहुत ही उज्ज्वल कर सकते हो। हाँ, यह बात सच है कि यदि तुम ऐसे ही हो जैसा मैं कह रही हूँ तो तुम ऐसा न करते। सिंह घास क्या दूसरे का मारा जानवर तक नहीं खाता। परन्तु उससे विपरीत आचरण वाला मनुष्य अपना जीवन नष्ट करने के लिये चुराया हुआ धन लौटाने भी नहीं आता......। खैर जो हो, अभी तुम

जाओ, मैं अभी कुछ भी निश्चय नहीं कर सकती ; तुम्हारे लिये बड़ी दुखी हूँ; सोमवार को तुम्हें फिर बुलाऊँगी।"

क्लर्क—" सर्कार का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।"

क्लर्क चला गया पर अपनी स्मृति कमला के मस्तिष्क में छोड़ गया। कमला को यह सोचने में भी लज्जा मालूम पड़ने लगी कि वह क्लर्क उसे बार बार याद आता था। धन तुच्छ है—मनुष्य मात्र बराबर हैं ऐसे भाव उसके मन का पक्ष लेने लगते तो वह उसी समय उन उदार भावों पर खीझ उठती। परन्तु वह यह निश्चय न कर सकी कि उसने क्लर्क को फिर क्यों बुलाया—फैसला सुनाने को अथवा उसे फिर देखने को। क्या हुआ ? ग़रीबों पर दया दिखलाना, उनमें मिलना-जुलना बड़े आदमियों का कर्त्तव्य होना चाहिये न !

४

सोमवार के दिन क्लर्क फिर बुलाया गया। अपने भविष्य के लिये उत्सुक आँखें कमला के मुख मण्डल पर पड़ रही थीं, पर उनमें उद्वेग का कोई चिन्ह न था।

कमला—" देखो, आज मेरे पिता का जन्मदिवस है। आज के दिन मैं किसी का अहित नहीं कर सकती। तुम्हें जीवन सुधारने का एक मौक़ा दिया जाता है। आशा है कि तुम उससे उचित लाभ उठाओगे।"

क्लर्क धन्यवाद देता हुआ चला गया।

\+ \+ \+ \+

दूसरे दिन से वह क्लर्क नायब दीवान के आफिस में काम करने

लगा। धीरे-धीरे पाँच साल बीत गये। उतने दिनों में उस क्लर्क की बड़ी उन्नति हुई। छठवें साल दुर्भाग्य से नायब दीवान साहब का देहान्त हो गया। उनकी जगह पर वही नियुक्त हुआ। अब आगे हम उसे नायब दीवान कहेंगे।

\+ \+ \+ \+

इस समय देश में डाके बहुत पड़ने लगे थे। सदा खटका बना रहता था। प्रबन्ध काफी था पर फिर भी डाकू लोग कब ,न जाने कौन चाल चलें।

कई दिन बाद बारह बजे रात का समय था। प्रहरी लोग घूम-घूम कर पहरा नहीं दे रहे थे। इतने दिन डाका न पड़ने से वे निश्चिन्त से हो गये थे। कमला के महल में सन्नाटा था। कमला सो रही थी पर उसके मुख पर मन्द दीप की ज्योति जग रही थी। कमरे में अंधकार और प्रकाश मिले हुये मालूम होते थे। निस्तब्धता भी साँय-साँय कर रही थी, रव और नीरवता का मेल था। बड़ी-बड़ी अलंघ्य दीवालें मानों रात्रि के भय से दीपक की कंपित ज्योति में अस्थिर हो उठीं थीं। इसी समय घोर कोलाहल हो उठा और वह बढ़ता ही गया। कमला जग पड़ी। सारे महल में शोर सुनाई पड़ा। कमला ताड़ गई कि डाका पड़ा। अपनी भावी दशा विचार कर उसे भय हुआ। इतने ही में दो-चार शस्त्रधारी जवान उसके कमरे में घुस आये और डपट कर बोले कि अपने सब गहने उतार कर धर दो। कमला किंकर्तव्य विमूढ़ होकर चुपचाप रही। उसे चुप देखकर एक डाकू ने तलवार दिखा कर कहा कि यदि रत्न और गहने न दोगी तो यह देखो। कमला को यह सुन कर बेहद क्रोध आया। उसने डपट कर कहा—

"बड़े बहादुर हो, एक अबला को धमकाते लज्जा नहीं आती। किसी मर्द से ऐसी डींग मारना था। या मुझे ही हाथ में तलवार दे दो फिर एक एक आ जाओ। मैं इस प्रकार गहने नहीं दे सकती"।

इतने ही में उस कमरे में नायब दीवन ने प्रवेश किया और डाकुओं से डपट कर बोले—

"यदि अपना भला चाहो तो शस्त्र रख के आत्म समर्पण कर दो नहीं तो इस तलवार से एक एक का शिर धड़ से उड़ा दूँगा। तलवार पकड़ने का शऊर नहीं है और आये हो इतने बड़े घर में डाका डालने।"

डाकू लोग एकाएक नायब दीवान पर टूट पड़े। किन्तु नायब दीवान के हाथ की सफ़ाई इस समय देखने ही योग्य थी। धीरे-धीरे सब डाकू आहत या मृत होकर धराशायी हो गये परन्तु नायब दीवान के कंधे पर गहरी चोट आई और वे भी गिर पड़े। इतने में कमला के सारे कर्मचारी, प्रहरी और बस्ती के बहुत से लोग वहाँ पहुँच गये। डाकुओं के शरीरों का उचित प्रबंध किया गया। कमला को केवल एक नायब दीवान की चिन्ता थी। फ़ौरन डाक्टर बुलाया गया और उनकी यथोचित सेवा-सुश्रूषा होने लगी।

५

आहत आज एक माह से पड़ा हुआ था। बीच में कभी कभी ऐसी अवस्था हो जाती थी कि डाक्टर घबरा कर कमला से कहते थे कि न जाने ईश्वर को क्या मंजूर है। उस समय कमला की आँखें छलछला आती थीं। एक दिन जब नायब दीवान की दशा

बहुत खराब थी तब कमला ने उनको निराशा भरी दृष्टि से देख कर कहा, "नायब दीवान साहब, आज तक मैं आप का नाम तक न जान सकी। मैं कितनी कृतघ्न हूँ। जिसने मेरे लिये जी का जोखिम उठाया मैंने उसका नाम तक जानने की परवाह न की" इतना कहते हुए कमला ने मुँह फेर लिया। आहत उसके खास कमरे में था।

आहत—"सर्कार, आप की इतनी कृपा ही बहुत है। मैंने आप की सेवा करके कर्तव्य मात्र का पालन किया है। आप इतनी चिन्तित क्यों हैं—मैं मरूंगा नहीं, मेरा नाम धीरेन्द्र है। इतना कहते कहते नायब दीवान के मुख पर मन्द मुस्कान आ गई।"

कमला—"नायब साहब, ऐसी बात ज़बान पर नहीं लाना चाहिये। आपके और कोई नहीं है?"

नायब साहब—"पहले आप यह बतलाइये कि एक महीने से आप मेरे लिये इतना कष्ट क्यों उठा रही हैं। रात को रात और दिन को दिन नहीं समझतीं। मैं तो आप का एक क्षुद्र सेवक हूँ। आप को तो सैकड़ों नायब दीवान मिल जायँगे।"

कमला—"हाँ, पर सब ऐसे नहीं मिलेंगे जो मेरे लिये प्राण देने पर उतारू हो जावें।"

ना० सा०—"फिर आप मुझे लज्जित करती हैं। आह! बड़ा कष्ट है। अच्छा न हो तो मेरे पिता जी को बुला भेजिये। आप को न मालूम होगा उनका नाम वीरेन्द्र बाबू है। वे यहाँ से बड़ी दूर हैदराबाद में आप ही के बराबर जिमींदार हैं। उनको आज मेरी अवस्था का तार देदीजिये।"

कमला चमत्कृत होकर बोली—

"मैंने उनका नाम सुना है। आप उनके पुत्र और मेरे नौकर—यह कैसी विडम्बना है। श्रीमान से और पिता जी से क्या कोई अनबन हो गई थी, क्या हुआ था? श्रीमान ने अब तक यह बात छिपा क्यों रक्खी थी, नहीं तो श्रीमान को श्रीमान की मर्यादा के अनकूल पद ही दिया जाता।"

ना० सा० ने हँस कर कहा—"हाँ अनबन के कारण ही ऐसा हुआ था। परन्तु मुझे आप का तुच्छ सेवक होने में ही आनन्द था। आपकी कृपा दृष्टि चाहिये। आप मुझे श्रीमान न कहिये वही तुम—जब तक मैं जी सकूं तुम ही कहा कीजिये। मेरे बड़े भाग्य कि आप की कुछ सेवा मैं कर सका।"

कमला ने घूंघट निकाल कर सिर नीचा कर लिया।

लगभग पंदरह दिन के बाद रोगी की अवस्था सुधर चली। उनके पिता जी भी आगये थे। वे उन पर इतने दिन तक ग़ायब रहने के कारण रुष्ट हुये। वे कमला को बेटी कहते थे। पुत्र की सेवा सुश्रूषा में उसको इतना दत्तचित्त देख कर बड़े कृतज्ञ थे। धीरेन्द्र की माता के पत्र उन्हें बुलाने के लिये बराबर आया करते थे, परन्तु कमला के सजल नेत्र उन्हें टलने ही न देते थे। यह हाल देख कर एक दिन वीरेन्द्र बाबू ने कमला को बुला कर कहा—

"बेटी मैं तेरे धीरेन्द्र को तुझसे सदा के लिये तो छीने नहीं लेता हूं, पंदरह दिन के लिये उसकी माता उसे तुझसे उधार मागती हैं। क्या यह भी तुझे स्वीकार नहीं है।" कमला चुप रही। चुप रहना आधी सम्मति देने के बराबर होता ही है।

६

धीरेन्द्र घर गये और लौट भी आये। वीरेन्द्र बाबू वहीं रहे। उनमें और दीवान साहब में यही सलाह हुई कि कमला और धीरेन्द्र को प्रणय सूत्र में बाँध देना चाहिये।

\+ \+ \+ \+

विवाह होने के बहुत दिन बाद एक दिन कमला ने धीरेन्द्र से अकेले में कहा—

"चोर कहीं के, हज़ार रुपये चुराते शरम नहीं आई थी।" धीरेन्द्र ने गम्भीरता से कहा "जी हाँ, तुमने जो मेरा मन चुरा रक्खा था सो। मैंने भी उसका ब्याज चोरी से ही वसूल किया। पर तुमने तो अपने चोरी गये हुये नोटों के नम्बर से मेरे दिये हुये नोटों के नम्बर का मिलान तो किया ही नहीं था।"

बन्धन

निर्मला ने ज़िमीदार महाशय के पाँव पकड़ कर कहा—"मेरे पास अभी कुछ नहीं है, मुझे रायपुर जाकर लौटने दीजिये तब आपका लगान दूँगी।"

ज़िमीदार—"हट यहाँ से, जा ले आ लगान। जब तक लगान नहीं देगी जाने न पावेगी। इसपर हमारे नौकर की ख़ोराक देनी पड़ेगी, वह तेरे घर पर बैठा रहेगा।"

निर्मला—"सर्कार, इतना ज़ुल्म न कीजिये। आपके भी लड़का लड़की हैं।"

ज़िमीदार—"चुप रह, ज्यादा बोली तो ज़बान खिंचवा लूँगा। मेरे लड़के-लड़की और तेरे लड़के-लड़की की बराबरी!"

निर्मला ने गिड़गिड़ा कर कहा—"सर्कार, मेरा बेटा बहुत बीमार है।"

ज़िमीदार—"बीमार हो चाहे मर जाय—हमें तो लगान चाहिये।"

निर्मला—"तो मुझे किसी तरह छुट्टी नहीं मिलेगी? सर्कार मेरा बेटा मर जायगा।"

ज़िमीदार—"लड़की को रायपुर भेजो-यहाँ खेत काटकर लगान चुकाओ और तब जाओ।"

निर्मला—"सर्कार, लड़की अकेले कैसे जायगी ?"

ज़िमींदार—"इतनी बड़ी लड़की हो गई अब रायपुर तक जा नहीं सकती—बस यही हो सकता है और कुछ नहीं। ज़्यादा मैं सुनना नहीं चाहता।"

निर्मला हताश होगई। उसे ज़िमींदार का प्रस्ताव ही स्वीकार करना पड़ा। यदि लड़की को नहीं भेजती तो रायपुर में बेटे की सेवा-सुश्रूषा कौन करेगा। उसने सन्तान-प्रेम में दूसरी सन्तान अर्थात् अपनी बेटी की चिन्ता किसी प्रकार छोड़ दी। परन्तु वह ज़िमींदार से कुछ क्रुद्ध होकर बोली।

निर्मला—"सर्कार, लड़की को भेजने को न कहिये। आपकी लड़की होती तो आप उसे अकेले जाने देते ?"

ज़िमींदार—"फिर वही बात, हमारी लड़की तो सात पर्दे में रहती है, तुम्हारी बाज़ार घूमती है—हमारी लड़की के दासियाँ हैं, तुम्हारी लड़की हाथ से चौका-बर्तन करती है। मैंने तो एक तरकीब बताई है। मुझे क्या ? मत भेजो अपनी लड़की को, मरने दो अपने बेटे को। मैं तो बिना लगान वसूल किए तुम्हें इस गाँव से बाहर क़दम न रखने दूँगा।"

निर्मला—"हद हो गई सर्कार, हद हो गई, अच्छा तो मुझे इलाहाबाद तक उसे पहुँचा आने दीजिये। वहाँ उसको रायपुर का टिकट कटा दूँगी और लौट आऊँगी। हो सका तो किसी रायपुर जाने वाले मुसाफ़िर के साथ कर दूँगी।"

ज़िमींदार—"अच्छा, इतना मैं कर सकता हूँ। मगर तुम कहीं रायपुर चली गईं तो।"

निर्मला—" सर्कार, ऐसा भी हो सकता है, आपको वचन देती हूँ कि नहीं जाऊँगी ! "

ज़िमींदार—" क्यों हो, रामसिंह ठाकुर, क्या किया जाय, इतना तो करना ही पड़ेगा। अपना दयालु स्वभाव ठहरा। "

रामसिंह ठाकुर ने हाँ में हाँ मिलाई और ज़िमींदार साहब के दयालु स्वभाव की अत्यधिक प्रशंसा की। ज़िमींदार साहब ने निर्मला पर इतनी दया की कि जो थोड़े से रुपये उसके पास अपनी बेटी को रायपुर का किराया देने को थे उन्हें नहीं छीन लिया। निर्मला बहुत रोई पर उसे अन्तिम निश्चय यही करना पड़ा कि वह अपनी बेटी कमला को रायपुर भेज दे। निर्मला चिन्ता के साथ कमला को प्रयाग ले चली। मार्ग में वह कमला को धैर्य देती जा रही थी। कमला कुछ अकेली जाने की कातरता और कुछ भाई की रुग्णावस्था से विचलित थी। जब तब उसकी आँखें भर आती थीं। पर क्या करती, वह विवश थी।

उनकी गाड़ी इलाहाबाद के स्टेशन पर लगभग सात बजे शाम को पहुँची। दोनों गाड़ी से उतर कर मुसाफ़िरखाने में गईं और भोजनादि से निवृत्त होकर सो रहीं।

लगभग ग्यारह बजे रात को दो मनुष्य उनके पास से निकले; उनमें आपस में यों बात चीत होने लगी—

" भई, बड़ी ख़ूबसूरत लड़की है; जान तो पड़ती है दीहातिन मगर चेहरा क्या है चाँद है। "

" इसे तो उड़ा देना चाहिये। "

" मैं तो बुढ़ा गया, मुझसे यह काम अब नहीं होता, पर तुम्हारी तो उमर है, तुम क्यों चूकते हो। यहीं पास ही सो

रहो। सबेरे इनसे बातचीत करो और इनके साथ जाओ। जहाँ का टिकट ये लोग लें वहीं का टिकट ले लो। अगर हो सके तो उड़ा लाओ।"

इस सलाह के बाद दोनों चले गये। उनसे कुछ दूर पर खड़ा हुआ एक युवक कान लगाकर उन दोनों की बातें सुन रहा था। उसके वदन-मण्डल पर पहले तो घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। फिर चिन्ता का और फिर निश्चय का। युवक पोशाक से साधारण परि-स्थिति का जान पड़ता था। उसका मुख अतीव सुन्दर, रंग गोरा, शरीर बलिष्ट था। उसके मुख पर चतुरता और भोलेपन का मिश्रण था, और उसके ऊपर साहस की छाप थी। थोड़ी देर तक वह खड़ा सोचता रहा। इतने ही में एक दूसरा युवक आ पहुँचा। उसने उससे हाथ मिलाया और कुशल प्रश्न आदि के पश्चात दोनों में यों बात होने लगी—

"भाई मेरे एक मित्र बहुत बीमार हैं उन्हीं को मैं देखने जा रहा था। अचानक तुम मिल गये। अच्छा ही हुआ, तुमसे कुछ काम ही निकलेगा।"

"क्या काम, कहो।"

"देखो, मैं समझता हूँ कि रास्ते में मेरे ऊपर कुछ विपत्ति आवेगी, उससे बचने का कुछ प्रबन्ध करते चलना चाहिये।"

"भाई, जब तुम सोचते हो कि विपत्ति आवेगी तो अवश्य आवेगी, तुम्हारी बुद्धि पर मुझे विश्वास है, कहो क्या करना होगा?"

"इस स्टेशन के पुलिस इन्सपेक्टर रामनाथ साहब मेरे मित्र हैं। उन्हें यह पत्र दे दीजियेगा और जबानी यह कह दीजियेगा

कि जहाँ कहीं मैं उन्हें तार देकर बुलाऊँ वहाँ आने को तैय्यार रहें। यह काम जरूर कर दीजियेगा। मैं ही उनके यहाँ चला जाता, मगर कौन जाने वे इस समय घर में मिलें, न मिलें। आप यहाँ से सीधे उनके यहाँ चले जाइये। जब तक न मिलें उनके घर पर बैठिये, काम बड़ा जरूरी है।"

"क्या है, कुछ कहोगे भी।"

"सुन कर क्या करोगे-मुमकिन है अभी मेरी बात पर हँस पड़ो। पर इतना अवश्य कर देना।"

"अवश्य।"

हाथ मिला कर दूसरा युवक चलता बना। पहला युवक उन दोनों अबलाओं के पास ही अपना बिस्तरा ले आया और उसे बिछा कर सो रहा। रात भर वह श्वान-निद्रा सोता रहा। तनिक भी खटका हुआ कि जग पड़ता था। सबेरे से कुछ पहले वह उठ बैठा। उसका अनुमान था कि उन दोनों आदमियों में से जो जवान था वह शीघ्र ही आवेगा। यह अनुमान बिलकुल ठीक निकला। वह जवान मनुष्य बाबुओं के ठाठ में शीघ्र ही आ पहुँचा। वह उन अबलाओं के बिलकुल निकट एक दरी बिछा कर लेट गया। कुछ देर बाद माँ बेटी दोनों जगीं। नित्य क्रिया से निवृत्त होकर वे दोनों वहाँ बैठी ही थीं कि उस जवान आदमी ने आँखें खोलीं, उठ बैठा और थोड़ी देर चुप बैठा रहा। उसके बाद उसने बड़ी सभ्यता से निर्मला से बातचीत करना आरंभ कर दिया।

"माँ, कहाँ जाओगी!"

"बेटा, मैं कहीं नहीं जा रही हूँ। यह लड़की रायपुर जायगी।"

" वहीं तो मैं भी जा रहा हूँ। यह कौन मुहल्ले जायगी ?"

" तेली पारा।"

" बस बस उसी मुहल्ले में तो मुझे भी जाना है।"

" तो बेटा, इसको उसी मुहल्ले में ज्वाला प्रसाद के घर पहुँचा देना, तुम्हारा नाम क्या है ?"

" रामदीन। तब तो यह घर की ही बिटिया है। ज्वाला प्रसाद भय्या को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। बड़े भले आदमी हैं।"

" बेटा आज कल वे बहुत बीमार हैं और अकेले हैं, नमालूम कैसे होंगे !" यह कह कर निर्मला ने अपनी आँखें पोछलीं।

रामदीन ने भी आँखें पोछीं और जवाब दिया—

" माँ अब कुछ चिन्ता मत करो, मैं पहुँच कर उनकी सब तरह की खबरदारी करूँगा।"

निर्मला गद्गद हो गई। बोली—

" बेटा तुम्हारी बड़ी उमर हो—मेरे लाल से कह देना कि अच्छा होकर जल्दी यहाँ चला आवे। उसने तो लिखा है कि तबियत बहुत ख़राब नहीं है, मगर मेरा जी न जाने क्यों रह रह कर घबराता है !"

जब गाड़ी का समय हुआ रामदीन टिकट ले आया और निर्मला ने अपनी आँखों की तारी, बाल ज्योत्स्ना के समान सुकुमार और गौ के समान सीधी सादी कमला को उस मनुष्य को सौंप दिया जिसका कुछ देर पहिले वह नाम भी न जानती थी। सच है, विपत्ति के समय बुद्धि मारी जाती है।

चलते समय कमला माता से लिपट कर ज़ोर से रो पड़ी; किसी

भावी आशंका के आभास से अभिभूत होकर उसका हृदय काँप रहा था।

उसके डब्बे के पास के डब्बे पर वही युवक बैठा था। उसने निर्मला और रामदीन की सारी बातें सुन ली थीं। जब वह वे बातें सुन रहा था तब उसके चेहरे पर पहले प्रसन्नता आई फिर अत्यन्त घबराहट। पर वह चुप रहा था।

गाड़ी कमला के अश्रुप्रवाह को बढ़ाती हुई चल रही थी। रामदीन उन्मत्त सा उसके मुख की ओर देख रहा था। गाड़ी में दो मुसाफ़िर और थे। उन्होंने पूछा, "भय्या, यह क्यों रो रही है।" रामदीन मुस्करा कर उनके पास पहुँचा और बोला—"गौना लिये आ रहा हूँ।" वे दोनों भी मुस्कराए और बोले—"घबराओ मत, दूसरे स्टेशन पर उतर जायँगे।"

रामदीन—"भाइयो, तुम लोग तो दिल्लगी करते हो।"

दोनों—" दिल्लगी नहीं, दूसरे स्टेशन पर हम दूसरी गाड़ी पर जा बैठेंगे।"

दूसरे स्टेशन पर दोनों मुसाफ़िर हँसते हुए उतर गये। रामदीन ने उनका बिस्तरा उठा कर पास के डब्बे में रख दिया, और मिठाई लेने के लिये थोड़ी दूर चला गया। इसी समय पास के डब्बे से उतर कर उसी नवयुवक ने कमला से धीरे से कहा—"देखो, कोई विपत्ति आवे तो ऊपर जो साँकल लगी है उसको खींच देना।" उसने युवक की मुख की ओर देखा—कुछ देर तक तो देखती रही, फिर कहा—"अच्छा"।

युवक लौट ही रहा था कि इतने में रामदीन आगया। वह गाड़ी पर चढ़ गया। युवक भी कुछ सोच कर उसी गाड़ी पर

चढ़ने लगा। रामदीन ने डपट कर कहा, "दूसरी गाड़ी देखो"। पास के डब्बे से भी दोनों मुसाफ़िरों ने कहा—"अरे यार अभी तो इस गाड़ी पर बैठे थे, अब उस पर क्यों जा रहे हो। उन लोगों को अकेले रहने दो"। युवक ने फिर उसी गाड़ी पर चढ़ने का प्रयत्न किया। रामदीन ने उसे धक्का देकर बाहर कर दिया। गाड़ी ने सीटी दी। युवक लाचार होकर अपनी ही गाड़ी पर सवार हुआ।

इधर रामदीन हँसता हुआ गाड़ी पर बैठ गया। कमला ने यह दुर्घटना देखी और सहम गई, पर युवक की बताई युक्ति उसे याद थी, इसलिये धीरज धारण किये रही। रामदीन ने जब उसे अपनी स्त्री बताया था तब वह मुसाफ़िरों से धीरे से बोला था, और कमला रोने की धुन में थी। इसलिये उस समय उसके शंकित होने का कोई कारण न था। पर अब उसे रामदीन पर संदेह होने लगा। उसने रामदीन का चेहरा ध्यान से देखा, वह उसी की ओर घूर रहा था। दोनों की नज़रें मिल गईं। रामदीन ने इस दृष्टि को कमला की ओर से प्रोत्साहन समझा। वह उसके पास आकर बैठ गया और कहने लगा—

"मिठाई खाओगी।"

कमला—"नहीं।"

रामदीन—"देखो तुम्हारे लिये ही लाया हूँ, मैं अपने हाथ से खिलाऊँगा।"

कमला—"नहीं नहीं, मेरा ध्यान भाई की बीमारी की तरफ़ है, और तुम्हें मिठाई खिलाने की सूझी है!"

रामदीन—"भाई का ध्यान छोड़ो, कुछ मौज करो।"

कमला सिमट कर खिड़की की ओर हट गई—इस तरह साँकल के और पास आगई ।

कमला—"ऐसा भी कहीं होता है ?"

रामदीन—"तुम्हारा विवाह होगया है ?"

कमला—"नहीं ।"

रामदीन—"मेरा भी विवाह नहीं हुआ है—अच्छी जोड़ी है ।"

कमला—"चुप रहो—क्या बकते हो !"

रामदीन—"तुम इस समय मुझसे बच नहीं सकतीं । फिर म्हारी इच्छा है चाहे मुझसे विवाह करो, चाहे दूसरे से ।"

यह कह कर रामदीन उसकी ओर थोड़ा और खिसका । कमला ने एक दम से साँकल खींच दी । रामदीन डर गया । थोड़ी देर के बाद गाड़ी खड़ी हो गई । गार्ड साहब ने डब्बे में प्रवेश किया । उनके पीछे उस युवक ने भी डब्बे में पैर रक्खा । भीतर आकर वह चुपचाप खड़ा हो गया ।

गार्ड—"क्या मामला है, किसने साँकल खींची है ?"

कमला ने आगे बढ़ कर कहा—"मैंने ।"

गार्ड—"क्यों ?"

कमला—"यह आदमी मेरे साथ... ।"

गार्ड—"तुम्हारे साथ बदमाशी करना चाहता था ! शाबाश—तुम दीहातिन मालूम होती हो, तुमको कैसे मालूम हुआ कि साँकल खींचने से गाड़ी खड़ी होती है ?"

कमला ने युवक की ओर देखा और उँगुली के इशारे से बता कर कहा "इसके पहले के स्टेशन पर ये बता गये थे ।"

गार्ड—"आप कौन हैं ?"

युवक—"मैं इस लड़की के भाई का मित्र हूँ।"

रामदीन—"यह झूठ कहता है—यह मेरी औरत है।"

गार्ड—"(युवक से) इसका आप के पास क्या प्रमाण है कि आप इस लड़की के भाई के मित्र हैं ?"

युवक—"लीजिये यह पत्र, और इस लड़की से इसके भाई का नाम और पता पूछिये।"

गार्ड ने पत्र पढ़ लिया। उसमें लिखा था

तेलीपारा, रायपुर

सी. पी.

ता०————

प्रिय ज्ञानचन्द्र,

मैं बहुत बीमार हूँ; शीघ्र आओ।

तुम्हारा मित्र—

ज्वाला प्रसाद

गार्ड—"लड़की, तुम्हारे भाई का क्या नाम है ?"

कमला—"ज्वाला प्रसाद।"

गार्ड—"वे कहाँ रहते हैं ?"

कमला—"तेलीपारा, रायपुर।"

गार्ड—"मिस्टर ज्ञानचन्द्र, आप का कहना ठीक है मगर आप को कैसे पता चला कि यह आदमी इसके साथ बदमाशी करना

चाहेगा जो आप पहले स्टेशन पर इस लड़की से साँकल खींचने को कह गये थे।"

इस बात पर ज्ञान चन्द्र ने गार्ड से अपने कमला से अपरिचित होने का और रामदीन की एक बुड्ढे के साथ सलाह करने से लेकर अपने साँकल खींचने को कह जाने तक का सारा हाल कह सुनाया।

गार्ड—"कमला, तुम्हारे साथ इसने क्या बर्ताव किया?"

कमला—"यह मुझ से ख़राब बातें करने लगा और मुझे पकड़ने वाला था कि मैंने साँकल खींच दी।"

गार्ड और कुछ कहना ही चाहता था कि इतने में वे दोनों मुसाफ़िर जो पहले स्टेशन पर गाड़ी पर से उतर गये थे, आगए। ज्ञानचन्द्र ने उनसे भी सब हाल कहा।

गार्ड—"कमला, तुम इस आदमी की औरत नहीं हो?"

कमला—"मैं अभी कुँवारी हूँ।"

गार्ड ने कहा—"यह आदमी कटनी में पकड़ा जायगा। मिस्टर ज्ञानचन्द्र, और आप दोनों आदमी, इसी गाड़ी पर बैठिये।"

ज्ञानचन्द्र—"अच्छा।"

गार्ड—"मगर मिस्टर ज्ञानचन्द्र, आप को अपने मातबर होने का और सबूत देना पड़ेगा। तब हम लोग इस लड़की को आपके साथ जाने देंगे; इस बर्ताव के लिये क्षमा कीजियेगा।"

सब लोग कटनी पहुँचे। वहाँ पहुँच कर रामदीन पुलिस के हवाले किया गया। ज्ञानचन्द्र ने प्रयागस्थ मित्र इंस्पेक्टर पुलिस को तार दिया। वे शीघ्र आए और कटनी की पुलिस को ज्ञानचंद्र

के भले आदमी होने का विश्वास हुआ। उन लोगों ने कमला के भाई को बीमार जान कर उसे ज्ञानचन्द्र के साथ रायपुर जाने दिया। जब ज्ञानचन्द्र कमला को लिये रायपुर पहुंचे तब उनके मित्र का देहान्त हो चुका था। ज्ञानचन्द्र ने मित्र की अन्त्य क्रिया विधि पूर्वक की। कमला ने धैर्य धारण करके उस कार्य में उचित योग दिया। वे दोनों वहाँ से शीघ्र प्रयाग लौटे। रायपुर से चलते समय उन्होंने अपने पिता जी को तार दे दिया कि कुछ आवश्यक कार्य के लिये वे अमुक दिवस प्रयाग स्टेशन आजावें।

ज्ञानचन्द्र और कमला प्रयाग चले आ रहे थे। जैसे जैसे प्रयाग निकट आता जाता था वैसे वैसे कमला उदास होती जाती थी। यह बात ज्ञानचन्द्र से छिपी न रही। उन्होंने यह समझने का ढोंग किया कि कमला को भाई की याद आ रही है और समझाने लगे।

ज्ञानचंद्र—"जो हो गया सो हो गया, उसके लिये अब शोक करना व्यर्थ है।"

कमला रो पड़ी। दुखी को सान्त्वना रुला देती है। कुछ देर बाद कमला स्वयं बोली—

"क्या आप इलाहाबाद से ही चले जावेंगे ?"

"नहीं, तुम्हें घर पहुँचा कर जाऊँगा।"

"बड़ी कृपा है। आप घर से जब चले जावेंगे, उसके बाद कब दर्शन देंगे।" यह कह कर कमला ने अपनी आँखें पोछ लीं। ज्ञानचन्द्र कुछ भी उत्तर न दे सके।

प्रयाग के स्टेशन पर ज्ञानचन्द्र के पिता उन्हें मिले। ज्ञानचन्द्र ने उन्हें सारा हाल कह सुनाया। ज्ञानचन्द्र के अनुरोध से उनके

पिता भी लड़की के घर तक चलने पर राजी हो गये। पर वे उस अनुरोध का मतलब नहीं समझ सके। उन्हें वह अनुरोध अच्छा भी नहीं मालूम हुआ। पर वयप्राप्त पुत्र की बात एकाएक नहीं टाली जा सकती।

+ + + +

कमला की माता पुत्र शोक में अत्यन्त कातर हो उठी। दो दिन तक वह ज्ञानचन्द्र और उनके पिता से एक बात भी न बोली। ज्ञान चन्द्र अपने पिता को जाने नहीं देते थे, इस पर उनके पिता खीझ रहे थे। कहते थे—आप स्वयं अपना समय बरबाद कर रहा है और मेरा समय भी बरबाद करता है। तीसरे दिन कमला की माँ ने ज्ञानचन्द्र से उनके पिता के सामने ही कहा—

"बेटा, इस अभागिनी की आपने रक्षा की है। अब मैं अनाथ विधवा इसको किसके पास ले जाऊँ? मेरी आशा का सहारा तो संसार से चल बसा" यह कह कर वह रोने लगी। ज्ञानचन्द्र चुपचाप खड़े रहे—उनकी आँखों में आँसू आगए।

"बेटा, कुछ कहूँ तो आप बुरा तो नमानेंगे?"

ज्ञानचन्द्र—"कहिये, बुरा क्यों मानूँगा।"

निर्मला—"आपने एक बार इसकी रक्षा की है। मैं चाहती हूँ कि इसकी जन्म भर रक्षा करने का बंधन आप अपने ऊपर लीजिये।"

ज्ञानचन्द्र ने पिता की ओर इशारा किया। निर्मला उनके पैरों पर जा गिरी। अब ज्ञानचन्द्र के पिता बड़े असमंजस में पड़े। वे सोचने लगे कि लड़के को बी० ए० पास कराने में इतने रुपये इस

लिये नहीं लगाये थे कि विवाह में कुछ भी न मिले। विवाह और मित्रता बराबरी वालों में ही ठीक होती है। इस औरत की हैसियत मेरे छोटे से छोटे किसान की हैसियत के बराबर है। यह संबन्ध कैसे हो सकता है। अतएव वे टालमटूल करने लगे। इस समय ज्ञानचन्द्र के चेहरे पर चिन्ता आ गई परन्तु बहुत ही शीघ्र उस पर दृढ़ता ने अपना रंग जमाया। उन्होंने गंभीर होकर कहा—

"पिता जी, मैं इस संबन्ध को स्वीकार करताहूँ।"

ज्ञानचन्द्र के पिता जी ने गरम होकर कहा—

"मेरी सारी जायदाद अपनी ही कमाई हुई है, पैतृक नहीं है, उसमें से तुम्हें एक कौड़ी भी नहीं मिलेगी।"

ज्ञानचन्द्र—"मुझे इसकी चिन्ता नहीं है।"

निर्मला ने दौड़कर ज्ञानचन्द्र को छाती से लगा लिया और उनके पिता जी से कहा—

"समधी जी, ऐसे रत्न का तिरस्कार न करो।"

पिता जी पिघल गये। कहा—"अच्छा खैर, जाति तो हमारी इनकी एक ही है, कोई हानि नहीं।"

ज्ञानचन्द्र—"जाति एक न होती तो भी कोई हर्ज नहीं था।"

ज्ञानचन्द्र के पिता अवाक रह गये।

चिन्ता-मुक्ति

१

विश्वेश्वर नाथ सोच रहे हैं और टहल रहे हैं। गंगा का किनारा है, लाखों आदमियों का जमघट, कुम्भ का पर्व है। साधुओं की संख्या की सीमा नहीं। मानो वे अगणित हैं। विश्वेश्वर नाथ की समझ में यह नहीं आ रहा था कि भारतवर्ष में ही इतने त्यागी जीव कैसे पैदा हो जाते हैं। और देशों में भी तो मनुष्यों का वास है। वहाँ तो इतने संन्यासी नहीं दीख पड़ते। यहाँ जिसको देखो वही गेरुआ वस्त्र पहने फिरता है। उन्होंने यह सोचकर अपना समाधान किया कि मातृ-भूमि पवित्र प्राचीन आर्यों की भूमि है। इसके प्रत्येक रज-कण में त्याग भरा हुआ है। सम्भव है कि यहाँ इतने त्यागी-हृदय होते हों। फिर वे सोचने लगे कि यहाँ का त्याग विचित्र है। लोग देश के लिये त्याग नहीं करते, समस्त संसार के लिये त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। वे नहीं समझते कि देश की वर्तमान परतंत्रावस्था में उनके संसार-प्रेम का कोई मूल्य नहीं। वे नहीं समझते कि जिसमें संसार के लोगों का हित करने की शक्ति नहीं उसका संसार-प्रेम मान्य नहीं होता। यह सोचते सोचते वे अधीर हो उठे। उन्होंने सोचा कि इन साधुओं में कोई ऐसा महात्मा नहीं पैदा हो जाता जो इनका ध्यान देश की परतंत्रता की ओर खींचे, उन्हें विरक्ति से विरक्त करके कर्म मार्ग में प्रवृत्त करे। यदि ये

लोग अपनी अकर्मण्यता का त्याग करके देश की स्वतंत्रता के महा संग्रास में भाग लें तो उसमें भारत की विजय अवश्य हो। ये यह न करें तो इन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। देश के ऊपर भार स्वरूप होकर क्यों खावें, कुछ कमाया ही करें। यही सब सोचते सोचते वे एक ओर को निकल गए।

गंगा का पवित्र जल सूर्य के प्रकाश में चमक रहा था। हवा में कुछ धूल उड़ रही थी। उस ओर बहुत लोग नहीं थे, केवल एक युवा संन्यासी गंगा के किनारे लेटा हुआ था। उसका चमकदार चेहरा सूर्य के प्रखर प्रकाश में चमक रहा था। उसकी देह भी गंगा जल के समान ही पवित्र जान पड़ती थी। वह एकटक गंगा की ओर देख रहा था। हवा के एक झोंके से गंगा की लहरें किनारे से जोर से टकरा उठीं। किनारे की उज्ज्वल बालू सिक्त हो गई। इसी समय विश्वेश्वर नाथ ने देखा कि उस युवक संन्यासी के उज्ज्वल कपोलों पर उसके बड़े बड़े नेत्रों से निकली हुई अश्रु-धारा बह रही है। उन्होंने समझा कि युवा संन्यासी के हृदय में कोई गुप्त वेदना छिपी हुई है। वे बड़े संकोच के साथ उसकी ओर बढ़े। वह दूसरी ओर देख रहा था। ये पास चले गये। एकाएक उससे कुछ कह न सके। वहीं पास ही खड़े हो गये। कदाचित उसने इनकी पद-ध्वनि सुन ली। उसका ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ। वह उठ बैठा, इनकी ओर देखने लगा। सहसा उसे ध्यान आया कि उसके आँसू बह रहे थे। वह उठकर गंगाजल से अपना मुँह धो आया।

विश्वेश्वर नाथ की आँखों में करुणा थी। उन्होंने उसकी ओर देखकर पूछा—

"आपका आश्रम कहाँ है।"

उसने उदास होकर कहा—

" मेरा आश्रम कहीं नहीं है। समस्त जगत है। "

" आखिर आप कहीं रहते होंगे। "

" कहीं नहीं। "

विश्वेश्वर नाथ को आश्चर्य हुआ। उन्होंने साहस करके उससे पूछा—

" आप इस छोटी उमर में साधु कैसे हो गये। आप किसी उच्च कुल के जान पड़ते हैं। "

इस प्रश्न को सुनकर युवक संन्यासी अपने को सँभाल न सका। वह फूट फूट कर रोने लगा।

विश्वेश्वर नाथ ने उसे ढाढ़स देते हुए कहा—

" मुझे मालूम होता है कि आप पर कोई घोर विपत्ति पड़ी है। विपत्ति सब पर आती है। जो उससे घबरा जाते हैं उनसे कुछ नहीं हो सकता। आपको उसे वीरों की भाँति सहना चाहिये। "

युवक संन्यासी ने अपने आँसू पोछ लिये।

विश्वेश्वर नाथ ने उसे कुछ शान्त देखकर कहा—

" यदि आप बुरा न मानें तो एक बात आपसे पूछूँ ? "

" निःसंकोच पूछिये। मेरे जीवन में अभी तक छिपाने योग्य कोई बात ही नहीं हुई। "

युवक संन्यासी की इस बात ने विश्वेश्वर नाथ को चमत्कृत कर दिया। उनके ऊपर उसकी चरित्र-दृढ़ता की धाक बैठ गई। उन्होंने कहा—

" मैं जिस समय यहाँ आया उस समय भी आप रो रहे थे।

क्या मैं आपकी पूर्व-जीवनी सुन सकता हूँ। यदि कोई आपत्ति न हो तो कहिये। मुझसे आपकी कोई हानि नहीं होगी, होगा तो लाभ ही।"

उसने कहा—

"यह तो आप का चेहरा देखते ही मालूम हो जाता है कि आपकी प्रकृति परम दयालु है। आप बैठ जाइये। मैं अपना दुख आपको सुनाऊँगा।"

विश्वेश्वर नाथ बैठ गये।

उसने कहा—

"मेरी कहानी बहुत छोटी है। मेरा परिवार बहुत छोटा था। मैं था, मेरी माता थी और मेरे पिता थे। मेरे पिता के कोई सम्पत्ति न थी। वह मेरे पितामह के समय में ही बिक चुकी थी। मेरे पिता को बी० ए० पास कराने के बाद मेरे पितामह और पितामही का देहान्त हो गया था। पिता सरकारी नौकर थे। वे बड़े ख़र्चीले थे। एक पैसा भी नहीं बचाते थे। वे धीरे धीरे डिप्टी कलेक्टर हो गये थे। मैं पढ़ता था। एन्ट्रेंस पास हो चुका था। मेरा चित्त लड़कपन से ही कुछ उदासीन रहता था। संसार के व्यापार मुझे अच्छे न जान पड़ते थे।

"विगत ग्रीष्म ऋतु मेरे ऊपर विपत्तियों का पहाड़ लेकर आई। एकाएक हैजे से मेरी माता और पिता का देहान्त होगया। इस घटना से मैं समझ गया कि संसार में कुछ नहीं है।

"मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेरे पिता ख़र्च बहुत करते थे। वे बैंक में कुछ भी नहीं छोड़ गये थे। जो कुछ घर में था उससे मैंने पिता की अन्त्येष्टिक्रिया की। घर का सामान पड़ोसियों को

बाँट दिया। मैंने संन्यास ले लिया। आगे पढ़ता भी तो कैसे पढ़ता ; पैसा तो था नहीं। यही मेरी जीवन की कहानी है। परन्तु अब मुझे मालूम होता है कि मेरा संन्यास झूठा है। जब जब मुझे माता-पिता की याद आती है रोने लगता हूँ। इस संन्यास को मैं सौभाग्य न जाने क्यों नहीं समझ सकता। परन्तु अब ऐसेही रहना पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है। मालूम होता है कि मेरे भाग्य में यही बदा है। जिस अनन्त की ओर मैं लड़कपन में जाना चाहता था—उधर नहीं जा सकता। उधर जाने का मार्ग ही नहीं जाना जा सकता। साधु लोग अधिकांश में ढोंगी हैं। कोई वह मार्ग नहीं जानता। जो जानते होंगे वे मिल नहीं सकते। अतएव अब मेरे संन्यास का मतलब है—भीख माँगना और खाना।

"वह भी मुझसे नहीं हो सकता। मैं माँग नहीं सकता। माँगने में मुझे बड़ी लज्जा आती है। इसलिये मुझे अधिकतर भूखा ही रहना पड़ता है। परन्तु मैं कर ही क्या सकता हूँ।"

उसकी यह कथा सुन कर विश्वेश्वर नाथ के हृदय में व्यथा हुई। उन्होंने उससे पूछा—

"आपकी जाति क्या है।"

उसने उत्तर दिया—"कायस्थ श्रीवास्तव।"

उन्होंने कहा—"तब तो आप मेरे सजातीय हैं। पर जाति से क्या मतलब, आपके पिता किस ज़िले में थे ?"

उसने कहा—"बस्ती में।"

उन्होंने कहा—"यदि आपको बुरा न लगे तो मैं कुछ कहूँ।"

उसने कहा—"कहिये"

उन्होंने कहा—"देखो बेटा, मैंने तुम्हारी बातें बड़े ध्यान से सुनी हैं। तुमको जो वैराग्य हुआ है वह सच्चा वैराग्य नहीं है। वह क्षणिक है। उस पर ध्यान पूर्वक विचार करने से मालूम होगा कि वह एक प्रकार से अकर्मण्यता है।"

उसने कहा—"आपका कहना अब मुझे भी उचित ही मालूम होता है।"

उन्होंने कहा—"तो फिर तुम संन्यास छोड़ क्यों नहीं देते। फिर से पढ़ना आरंभ कर दो।"

उसने कुछ सोचा और उसकी आँखें फिर सजल होगईं।

विश्वेश्वर नाथ ने उसकी उलझन समझ ली; वे भी कुछ सोचते रहे। फिर कहा, अच्छा मेरे साथ चलो।

२

विश्वेश्वरनाथ संन्यासी को लिये हुये घर के भीतर चले गये। सुलक्षणा उनके पास दौड़ आई। युवक सन्यासी को देख कर उसने पूछा "चाचा ये कौन हैं!" सुलक्षणा अपने पिता को चाचा ही कहा करती थी।

विश्वेश्वर नाथ ने उत्तर दिया—

"ये एक संन्यासी हैं। आज गंगा के किनारे मुझसे इनसे भेंट हुई है। बड़े भले आदमी हैं। ये एक डिप्टी कलेक्टर के लड़के हैं। ये अपने ही यहाँ रह कर पढ़ेंगे। जा इनके लिये जलपान ले आ।"

सुलक्षणा एक कमरे में चली गई। नौकर ने आदेश पाकर युवक संन्यासी का हाथ पैर धुलाया। जब वह स्वस्थ होकर बैठा

तब सुलक्षणा मिठाई, नमकीन और फलों की तश्तरियां लिये उपस्थित थी।

सन्यासी को बड़ा संकोच हो रहा था। वह चुपचाप बैठा रहा।

विश्वेश्वरनाथ ने उसके ऊपर एक स्नेहपूर्ण दृष्टि डाल कर कहा—

"बेटा, खाना आरम्भ करो।"

युव० स०—"अब आप मुझे सांसारिक बंधन में न बाँधिये।"

विश्वे०—"खाओ, खाओ, तुमने अभी संसार देखा कहाँ है-अभी संसार में प्रवेश किया नहीं, संसार का बंधन छूट गया।"

विवश होकर युवक संन्यासी ने खाना आरंभ किया। उसे जान पड़ा मानो उसने खोया हुआ पितृ-प्रेम पुनः प्राप्त कर लिया हो।

दूसरे ही दिन विश्वेश्वर नाथ ने उस युवक को कालिज में भर्ती कराने की चेष्टा की। युवक ने और सब वस्तुओं का त्याग कर दिया था, पर उसका अंग्रेजी प्रवेशिका परीक्षा का प्रमाण-पत्र उसके एक सहपाठी के यहाँ रक्खा हुआ था, जो उसने पत्र लिख कर मँगालिया। उसके सहपाठी ने उसे लिखा—

"इसी दिन की आशा से मैंने प्रमाण-पत्र तुमसे लेकर सुरक्षित रक्खा था। ईश्वर करे तुम खूब पढ़ो।"

तीसरे दिन युवक ने विश्वेश्वरनाथ से बड़ी नम्रता से कहा—

"मुझे खुद कुछ कमाना चाहिये। आपकी इस कृपा के कारण मैं अकर्मण्य न हो जाऊं।"

विश्वे०—"अकर्मण्य क्यों हो जाओगे। मैं तो तुम्हें सुलक्षणा

के पढ़ाने के वास्ते लाया हूँ। तुम कुछ भी संकोच न करो। मेरे यहाँ रहने पर भी तुम अपना खर्च आप ही सम्हालोगे। मेरा दान दिया हुआ नहीं खाओगे। इस ओर से निश्चिन्त रहो।"

शीघ्र ही युवक ने सुलक्षणा को पढ़ाना आरंभ किया। धीरे धीरे उसे उसको पढ़ाने में आनन्द आने लगा। पढ़ाते पढ़ाते सुलक्षणा की बड़ी बड़ी आँखों से उसकी आँखें अनायास ही मिल जाती थीं। सुलक्षणा का प्रत्यंग सुन्दर था। किशोरवास्था बाल्या-वस्था पर अधिकार जमा रही थी।

इसका फल यह हुआ कि युवक सन्यासी का अधिक समय पढ़ाने में ही जाता था। वह पढ़ता बहुत कम था।

एक साल बीत गया। जब परीक्षा को दस दिन रह गये तब युवक ने कुछ दिन के लिये पढ़ाना छोड़ दिया। वह मनोयोग पूर्वक पढ़ने की चेष्टा करने लगा। परन्तु पढ़ने में उसका ध्यान न लगता था। उसके अन्तरंग नेत्रों के सन्मुख सुलक्षणा की मूर्ति प्रतिक्षण उपस्थित रहती थी।

इस रोग की दवा वह इस प्रकार करने लगा। सुलक्षणा का ध्यान आते ही वह जाकर सुलक्षणा से सम्भाषण करने लगता था। वह समझता था कि इस प्रकार उसे पढ़ने के समय सुलक्षणा का ध्यान न आवेगा। परन्तु उसका फल उलटा होता था। उसे सुलक्षणा का ध्यान दिन रात रहने लगा।

संन्यासी ने उस साल परीक्षा पास करने का बहुत प्रयत्न किया। पर सब व्यर्थ हुआ। वह इन्टरमीडियट के प्रथम वर्ष में ही असफल रहा।

परीक्षाफल सुन कर वह मुँह लटकाए घर लौटा। सुलक्षणा द्वार

पर ही उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने पूछा—"क्या हुआ ?" युवक संन्यासी ने सजल-नेत्र उत्तर दिया—" मैं फेल हो गया।"

सुलक्षणा—" तो क्या हुआ, दूसरे साल पास हो जाओगे।"

दोनों घर के भीतर गये। सहानुभूति पाकर शोक उमड़ आता है। युवक संन्यासी रोने लगा। सुलक्षणा ने अपने आंचल से उसके आँसू पोंछ दिये।

युवक सन्यासी ने बड़ी दीनता के साथ सुलक्षणा का हाथ पकड़ कर कहा—

" तुम मेरे बारे में न जाने क्या सोचती होगी ? कहती होगी, कैसा मन्द-बुद्धि है ?"

सुलक्षणा—"ऐसा मत समझो—मैं कभी ऐसा नहीं सोचती।"

सुलक्षणा ने अपनी आँखें पोंछ लीं और मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

युवक सन्यासी ने व्यग्रता पूर्वक कहा—

" सुलक्षणा ! मैं अबकी साल पढ़ नहीं सका—इसीसे फेल हो गया। तुम कोई चिन्ता मत करो।"

सुलक्षणा—" क्यों नहीं पढ़ सके। अवश्य तुम्हें यहाँ कोई कष्ट था।"

यु० सं०—" देखो सुलक्षणा—ऐसा न कहो। तुम लोगों का इतना स्नेह मुझ पर है कि मैं उसे शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता। मुझे कष्ट क्या हो सकता है ? ऐसी अवस्था में यह सोचना भी कि मुझे कष्ट है कृतघ्नता है। क्या तुम मुझे कृतघ्न समझती हो ?"

सु०—"नहीं, नहीं मैं ऐसा कदापि नहीं समझती मगर फिर तुम पढ़ क्यों नहीं सके ?"

यु० सं०—" ऐसे ही।"

सुलक्षणा रूठ कर एक कुर्सी पर बैठते हुए बोली—

" मुझसे अपने मन की बात न कहोगे ?"

संन्यासी चुप रहा।

सुल०—" जाओ अब मैं तुमसे कभी नहीं बोलूँगी।"

संन्यासी रोने लगा। वह अपने मन की बात कहना चाहता था पर कहने में उसे बड़ा संकोच हो रहा था। सुलक्षणा ने फिर उसके आँसू पोंछ दिये और बोली—" अच्छा, मैं नहीं पूछूँगी। तुम्हें कहने में दुख होता है तो न बताओ।"

अब संन्यासी व्यग्र हो उठा। उसका मन, मन की बात न कह सकने की संभावना से कातर हो उठा। युवावस्था प्रेम प्रकट करना चाहती है परन्तु संकोच का उसपर इतना अधिकार रहता है कि वह उसे प्रकट नहीं कर सकती। पर प्रेम-प्रकट करने का अवसर न मिलने पर उसे बड़ा क्लेश होता है। वह चाहती है कि उसे प्रेम प्रकट करने का अवसर मिला करे चाहे वह उसे प्रकट न कर सके।

उसने कहा—"मगर तुम समझोगी कि मैं तुमसे मनकी बात छिपाता हूँ।"

सुलक्षणा चुप रही—उसका मुख और भी उदास हो गया। मानों वह अपने आकर्ण चक्षु युगल से कह रही थी कि यह समझे बिना मैं कैसे रह सकती हूँ।

युवक संन्यासी ने कहा—" अच्छा किसी से कहोगी तो नहीं ?"

सुलक्षणा की उदासी कुछ दूर हुई। उसने कहा—

"नहीं, किसी से न कहूंगी।"

युव० सं०—"मुझे ...."

सुलक्षणा—"कहो, कहो, रुक क्यों गये।"

युवक संन्यासी ने बहुत साहस करके कहा—

"मुझे दिन रात तुम्हारा ध्यान बना रहता है।"

सुलक्षणा प्रायः घर में अकेली रहा करती थी। उसे प्रौढ़ स्त्रियों का संसर्ग प्राप्त नहीं था। यद्यपि उसपर किशोरावस्था का अधिकार हो गया था, प्रेम के लिये लालायित थी, परन्तु फिर भी प्रेम की बात समझती नहीं थी। उसने आश्चर्य से पूछा "क्यों?"

सुशीला के इस भोलेपन से संन्यासी उसकी ओर बहुत अधिक आकृष्ट हुआ। वह धीरे धीरे उसके पास चला गया और बोला—

"न जाने क्यों ?"

सुलक्षणा चुप रही। संन्यासी अपना परीक्षाफल भूल कर सुलक्षणा के आँचल से खेलने लगा। इसी समय विश्वेश्वरनाथ ने कमरे में प्रवेश किया। एकाएक दोनों एक दूसरे से दूर हट गये। विश्वेश्वरनाथ ने पूछा—

"चन्द्रप्रसाद, तुम्हारी परीक्षा का फल क्या हुआ ?"

युवक संन्यासी शिर नीचा करके चुप हो रहा।

विश्वेश्वरनाथ का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। उन्होंने उसी समय कहा—

"अब मैं तुम्हें अपने घर नहीं रख सकता। मेरी लड़की

सयानी है—विवाह योग्य हो गई है । तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं ।"

चन्द्रप्रसाद पर मानों वज्रपात हुआ। उसे इतने कठिन व्यवहार की आशंका नहीं थी । उसका चेहरा सूख गया । पर उसके आत्म-सम्मान की मात्रा अभी घटी न थी । शीघ्र ही उसे विश्वेश्वरनाथ के ऊपर क्रोध आ गया । आंखें लाल हो गईं, ओंठ फड़कने लगे । उसने कहा—

" अपने मन से तो आपके यहाँ आया नहीं था । आप ही ने लाकर रक्खा था ।"

वि०—" हाँ ठीक कहते हो, मुझसे ही गलती हुई थी । अब उस गलती का प्रतिकार करना चाहता हूँ । बाबा, लड़की का विवाह हो जाने के बाद तुम फिर आकर रहना । मुझे कोई आपत्ति न होगी । "

चन्द्रप्रसाद वहाँ से खाली हाथ चल पड़ा । उसने न कपड़े लिये, न किताबें लीं । विश्वेश्वर नाथ ने उसे बिना कुछ लिये जाते देख कर कहा—

" अपने कपड़े और अपनी किताबें ले लो । "

" नहीं, मुझे उन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं । "

" क्या पढ़ना छोड़ दोगे ? "

" पढ़ना क्यों छोड़ दूँगा ? क्या केवल आप ही के भरोसे पढ़ सकता था ? आपका ऐसा सोचना व्यर्थ है । "

वि०—" अच्छा यही सही, जाओ ।"

३

सुलक्षणा की ओर से निराश हो जाने के बाद चन्द्रप्रसाद के लिये संसार शून्य हो गया। उसका हृदय मानो टूक-टूक हो गया। परन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि उसको शीघ्र ही धैर्य धारण करना पड़ा। विश्वेश्वर नाथ का घर छोड़ने के दूसरे ही क्षण उस पर भोजनों की चिन्ता सवार हो गई। एक साल के बीच में इलाहाबाद शहर में उससे बहुत लोगों से जान-पहचान हो गई थी। वह दिन भर अपने मुलाक़ातियों के पास घूमता रहा। एकाएक उसे इस अवस्था में देखकर उसके सभी मिलने वालों को आश्चर्य हुआ। पर उसे आश्रय किसी ने न दिया। अन्त में हताश होकर वह अपने एक सहपाठी के पास पहुंचा। वह धनी का लड़का था और उससे और चन्द्र प्रसाद से इतने दिनों के संसर्ग से मित्रता भी हो गई थी। उसने सारा हाल सुनकर इनको गले लगाया और आश्वासन दिया। उससे यों बातचीत होने लगी—

"भाई देखो, तुम्हारी बुद्धि मुझसे तीव्र है, परन्तु तुम फेल हो गये और मुझको प्रथम श्रेणी के नम्बर मिले हैं। इसका क्या कारण है, जानते हो।"

"क्या कारण है?"

"कारण यही है कि तुम बड़े भारी खेलाड़ी भी बनना चाहते हो। हाकी, क्रिकेट, फुटबाल सभी तुम सब से अच्छे खेलने वाले हो। जब देखो तब खेलने की धुन है। क्लास का लेक्चर तो कभी सुना ही नहीं।"

"हाँ ठीक कहते हो।"

"अच्छा अब तो खेल में न पड़ोगे?"

" नहीं । "

" तो फिर तुम्हारे लिये प्रबन्ध करूँ । मेरे छोटे भाई को शिक्षक की आवश्यकता है । उसे पढ़ाओ । यहीं रहो और पढ़ो । ऊपरी खर्च के लिये आपको मिल जाया करेगा । "

चन्द्र प्रसाद की आँखों में कृतज्ञता के आँसू भर गये । उसे बड़ा संकोच हुआ । वह चुप रहा ।

उसके सहपाठी ने उसे फिर गले लगा लिया—कहा " भाई, तुम संकोच क्यों करते हो । इतने दिन के भाईचारे के पश्चात भी क्या तुम मेरे घर को अपना घर नहीं समझ सकते हो । बड़ा आनन्द रहेगा—साथ साथ पढ़ेंगे । "

चन्द्र प्रसाद सहपाठी के यहाँ रहने लगा । पर उसका जी पढ़ने में न लगता था । जो संयोग में नहीं पढ़ सकता था उसे वियोग में पढ़ने के लिये ध्यान एकाग्र करने में और भी कठिनाई होने लगी ।

सहपाठी यह ताड़ गया । परन्तु कोई उपाय नहीं था । एक दिन कालिज से आकर दोनों साथ बैठे हुये थे । उनमें यों बातें होने लगीं ।

" चन्द्र, तुमको एक शुभ-संवाद सुनाना चाहता हूँ । "

" क्या " (चन्द्र प्रसाद अब बहुत ही मितभाषी हो गया था)

" मेरा विवाह पक्का हो गया । "

" कब होगा ? "

" अभी तो देर है—मगर पक्का हो गया "

" किसके साथ ? "

"जिनके यहाँ तुम रहते थे उन्हीं की लड़की के साथ।"

चन्द्र प्रसाद का चेहरा पीला पड़ गया। उसका सहपाठी राम चन्द्र मुस्कुराता हुआ वहाँ से उठकर चला गया।

अभी तक चन्द्रप्रसाद को यह आशा थी कि कदाचित सुलक्षणा उसे मिल जाय। उसने लोगों से सुना था कि विश्वेश्वर नाथ उसे अपनी लड़की के साथ ब्याह देने के उद्देश्य से ही ले आए थे। वे बड़े कट्टर आदमी थे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि चाहे उनकी लड़की अविवाहिता ही रह जाय परन्तु वे दहेज़ नहीं देंगे। अतएव वे ऐसे ही वर की तलाश में थे जो स्वतंत्र हो और जिसपर वे प्रभाव डाल सकें। अतएव वह समझता था कि कभी न कभी विश्वेश्वर नाथ फिर उसकी खोज करेंगे। परन्तु आज राम चन्द्र की बात सुनकर उसको निश्चय हो गया कि सुलक्षणा अब उसे न मिलेगी। वह यही सब सोच रहा था कि राम चन्द्र फिर आ गया। उससे चन्द्र प्रसाद ने पूछा—

"तुम्हारे साथ वे अपनी लड़की कैसे ब्याह देंगे। तुम ब्राह्मण हो और वे कायस्थ।"

"जो सुधारक है उसे जाति-पांति की क्या परवाह?"

चन्द्र प्रसाद को राम चन्द्र और सुलक्षणा के विवाह हो सकने में जो सन्देह हुआ था वह भी जाता रहा। वह जानता था कि विश्वेश्वर नाथ सुधारक हैं, उन्हें जाति-पांति की परवाह नहीं है।

सुलक्षणा का न मिलना निश्चित हो गया। चन्द्रप्रसाद के लिये सारा संसार अँधेरा होगया। दो तीन दिन तो उसकी बुरी हालत रही। परन्तु उसके पश्चात् निराशा की उत्कटता कम होने लगी। उसका क्लेश धीरे धीरे शान्त होने लगा। युवावस्था के

भाव बहुत दृढ़ नहीं होते। वे शीघ्र ही उच्छिन्न अथवा परिवर्तित हो जाते हैं। जब क्लेश के प्रथम आक्रमण का प्रभाव कम हो गया तब उसे विश्वेश्वरनाथ पर कुछ क्रोध आया। उसने सोचा कि उन्हें मुझसे कुछ भी प्रेम नहीं था, मेरी भावी धन-सम्पति से था। यदि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता तो वे कभी मुझे घर से बाहर न करते। वे कितने स्वार्थी हैं। उन्होंने अनुत्तीर्ण होने के कारण मेरा तिरस्कार किया। वे अवश्य मुझे मंद-बुद्धि समझते होंगे। यह सोचते सोचते चन्द्रप्रसाद उत्तेजित हो उठा। मुझे मंद-बुद्धि समझ लिया। केवल परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के कारण। और इसी कारण अपने सारे निश्चय बदल डाले। मैं अपनी बुद्धि के प्रकाश से उन्हें चकित कर दूँगा। उनसे निश्चय बदलने का पश्चात्ताप करवाऊँगा। निराशा के अंधकार में, दुख में और तिरस्कृत होने के कारण अत्यन्त उत्तेजना में चन्द्रप्रसाद प्रमत्त सा होगया। उसने हाथ पर हाथ मार कर पढ़ने की भीषण प्रतिज्ञा की और दूसरे दिन से सुलक्षणा की काल्पनिक मूर्ति को अपने मन मन्दिर से बल पूर्वक हटा कर वह पढ़ने में संलग्न होगया।

थोड़े ही दिन के बाद उसके शिक्षक उसकी प्रगति देख कर चकित होने लगे। वह कक्षा का सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी बन बैठा। शिक्षक लोग भी उसका यह नया उत्साह देख कर प्रसन्न हुये और उसे हर प्रकार की सहायता देने लगे।

समय बीत चला। चन्द्रप्रसाद अविराम परिश्रम करने लगा। उसका सुफल भी उसे मिला। उसने इन्टरमिडियट की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। रामचन्द्र ने उसे हृदय से बधाई देकर गले से लगा लिया। केवल एक विश्वेश्वर नाथ उससे तटस्थ रहे। शेष जान पहचान के सभी लोगों ने उसकी सफलता पर अपने सद्-

भाव प्रदर्शित किये। चन्द्रप्रसाद को विजय गर्व हुआ। उसने विश्वेश्वर नाथ को तुच्छ समझा और यह सोचने लगा कि उन्हें पश्चात्ताप के बदले उसकी सफलता पर शोक हो रहा है। उसने सोचा कि जो जलता है उसे और जलाना चाहिये। उसने पुनः परिश्रम करना आरम्भ कर दिया। दो साल तक उसने तनिक भी शिथिलता नहीं की। अबकी उसने विश्वविद्यालय में प्रथम होने की ठान ली थी। जब परीक्षा-फल निकला तो सचमुच ही वह प्रथम श्रेणी में सब से प्रथम रहा। उसे स्टेट स्कालरशिप मिली। वह विलायत जाने की तय्यारी करने लगा।

इसी बीच में सुलक्षणा का विवाह छिड़ गया। इस विवाह की बात सुन कर चन्द्रप्रसाद का हृदय एक बार फिर आन्दोलित हो उठा। उसने सोचा कि आज यदि वह सुलक्षणा को प्राप्त कर सकता तो कितना सुखी होता। उसने भी अब अंग्रेजी की प्रवेशिका परीक्षा पास करली है। क्या उसने मुझे बिलकुल भुला दिया। यह सोचते सोचते उसकी आंखों में आँसू भर आए। उसे रामचन्द्र से डाह होने लगा। पर वह कर ही क्या सकता था। वह दिन रात उदास रहता था।

उसे मन मारे बैठे हुए देख एक दिन उससे रामचन्द्र ने कहा—

"भाई चन्द्र, क्या तुम्हें मेरे भाग्य से ईर्ष्या होती है?"

चन्द्रप्रसाद चुप रहा। उसकी समझ में न आया कि वह क्या उत्तर दे।

रामचन्द्र ने फिर कहा—"भाई हम तुम क्या दूसरे दूसरे हैं? सुलक्षणा तुम्हारे घर जाय या हमारे घर आवे, बात तो एक ही है।"

रामचन्द्र को मुस्कराते देख कर चन्द्रप्रसाद ने भी मुस्कुराने की चेष्टा की पर वह उसमें कृतकार्य न हो सका।

धीरे धीरे विवाह का दिन निकट आगया। रामचन्द्र के पिता जी ने सब तय्यारियाँ कीं। तिलक चढ़ने के समय के दो घंटे पहले रामचन्द्र के पिता जी ने चन्द्रप्रसाद को बुला कर कहा—

"देखिये, यह अच्छी बात नहीं है। मेरे लड़के का विवाह हो रहा है और आप मुँह लटकाए बैठे हैं।"

चन्द्रप्रसाद अपने पितृ तुल्य अतीव सज्जन मनुष्य का ऐसा आचरण देख कर चुप रह गया। भला वह कह ही क्या सकता था।

उन्होंने फिर कहा—

"अब तो जरा खुश हो जाइये। इस समय ऐसा भाव नहीं चाहिये।"

चन्द्रप्रसाद ने मुस्कान को बलपूर्वक अपने ओठों पर बुलाया।

तिलक का समय बिलकुल निकट था। इसी समय रामचन्द्र चन्द्रप्रसाद के पास आकर बोला—

"भाई, बहुत उदास हो, तुम्ही न चौक पर बैठ जाओ।"

ऐसे समय ऐसी दिल्लगी सुन कर चन्द्रप्रसाद के ओठ क्रोध से फड़फड़ा उठे। उसने अत्यन्त उत्तेजना में कहा—

"आप क्या बक रहे हैं!"

रामचन्द्र—"नहीं जी, मैं दूसरे का माल हड़प नहीं करना चाहता, मैं महान त्याग करूँगा। यह शादी मैं कभी नहीं करूँगा। भाई, मुझे नहीं मालूम था कि तुम्हें सुलक्षणा से प्रेम है।"

चन्द्रप्रसाद—"भाई ऐसी दिल्लगी तुम्हें शोभा नहीं देती। इतना कह कर चन्द्रप्रसाद अतीव खिन्नता पूर्वक नीचे देखने लगा।"

इतने में वर के वस्त्र आदिक भी वहाँ लाए गए। रामचन्द्र बड़े ज़ोर से हँसकर बोला।

"मुझे नहीं, इन्हें पहनाओ—मैं न पहनूँगा।" पहनाने वाले दर्ज़ी ने हँस कर कहा—

"क्या करूँ लाचार हूँ, आपका हुकुम कैसे टाल सकता हूँ, भय्या चन्द्रप्रसाद, तुम्हीं पहन लो।"

चन्द्रप्रसाद अत्यन्त रुष्ट होकर वहाँ से भागना चाहता था। परन्तु दर्ज़ी ने उसे बलपूर्वक जामा जोड़ा पहनाना आरंभ कर दिया। इतने में रामचन्द्र के पिता वहीं पहुँच गये। उन्होंने ज़ोरों से हँसते हुए कहा—

"चन्द्रप्रसाद, तुम्हारे बराबर गदहा लड़का तो मैंने कहीं देखा ही नहीं। मालूम होता है तुम रिश्वत देकर बी० ए० में अव्वल आए हो। तुम लोगों से इतना विरक्त रहते हो कि तुमको यह भी पता न चला कि किसका विवाह हो रहा है। अरे भाई ज़रा निमंत्रण पत्र ही पढ़ लिया होता।" यह कहते हुए उन्होंने एक छपा हुआ निमंत्रण-पत्र उनके हाथ में रख दिया—उसमें लिखा हुआ था—

"......मेरे पुत्रवत चन्द्रप्रसाद का शुभ विवाह श्रीयुत विश्वेश्वर नाथ की सुयोग्य कन्या श्री सुलक्षणा देवी से होना निश्चित हुआ है ....।"

उसे पढ़ कर चन्द्र प्रसाद का मुख लज्जा से लाल होगया। वह शिर नीचा करके चुप हो रहा।

कुवासना

कलानिधि के कोई छोटा भाई नहीं था। वह अपने पिता के परम मित्र विश्वम्भर नाथ के पुत्र छवि नाथ को ही छोटा भाई समझता था। जब वह पेन्ड्रा से बिलासपुर जाने लगता तब उससे लिपट कर रो पड़ता था। बिलासपुर में वह अँगरेज़ी पढ़ता था और छविनाथ पेन्ड्रा गांव में हिन्दी पढ़ता था। कलानिधि कभी कभी यह सोच कर कुछ सुखी हो जाता था कि थोड़े दिनों के बाद छबिनाथ भी पढ़ने के लिये मेरे साथ बिलासपुर जावेगा।

कलानिधि की माता का स्वर्गवास हो चुका था। उसके वृद्ध-पिता जी की तबियत भी अच्छी न रहती थी। पिता के बारे में वह चिन्तित रहा करता था।

उसे मालूम था कि उसकी माता और उसके पिता से पटती न थी। अतएव उसके पिता के प्रेम के अनन्य आश्रय उनके मित्र विश्वम्भर नाथ थे। कलानिधि उनको काका कहता था। उनकी स्त्री को ही वह माता की मृत्यु के पश्चात माता समझता था। सन् ——की गरमी की छुट्टी सुख से बिताने के बाद वह छविनाथ को छोड़ कर बिलासपुर पढ़ने चला गया।

२

अक्तूबर में कलानिधि के पिता ज्ञाननिधि बीमार पड़ गये। अचानक उनकी तबियत बहुत बिगड़ गई। विश्वम्भर नाथ ने

कलानिधि को पत्र लिख दिया। परन्तु उनके आने के पहले ही ज्ञाननिधि मरणासन्न हो गये। मृत्यु के समय ज्ञाननिधि ने कहा—

"भय्या विश्वम्भर, अब मेरा समय निकट आ गया है। कदाचित मैं मरने के पहले कलानिधि को नहीं देख सकूँगा।"

विश्वम्भरनाथ—"कलानिधि को मैंने आपके बहुत अधिक अस्वस्थ होने का हाल नहीं लिखा था जिससे कि वह घबड़ा न जाय।"

उन्होंने उसी समय बिलासपुर आदमी भेज दिया। पेन्ड्रा में उस समय तार न था।

कुछ देर के बाद ज्ञाननिधि फिर बोले—

"भय्या मेरे मरने के पहले वह न आ सकेगा। मैंने वह बात उससे नहीं कही है—कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। तुम्हीं बता देना।"

विश्वम्भरनाथ—"आप चिन्ता न कीजिये—मैं तो हूँ ही।"

ज्ञाननिधि के मृत्यु के कुछ देर बाद कलानिधि आ पहुँचा। कलानिधि के घर में उसके सिवाय कोई रोने वाला न था, पर जब वह विश्वम्भर नाथ के घर पहुँचा तब वहाँ कुहराम मच गया। परन्तु हो ही क्या सकता था, सब रो धो कर चुप हो गये। विश्वम्भरनाथ ने कलानिधि को बहुत आश्वासन दिया। ज्ञाननिधि की अन्त्येष्टिक्रिया समाप्त हो जाने के बाद शीघ्र ही उसे बिलासपुर भेज दिया।

जब कलानिधि फिर लौट कर आया तो उसने विश्वम्भर नाथ का व्यवहार कुछ रूखा पाया। शायद पिता के समय की बात पिता के साथ ही चली गई थी।

एक दिन विश्वम्भर नाथ ने उसे एकान्त में बुला कर कहा—
" कलानिधि, तुम जानते हो कि मैं ग़रीब आदमी हूँ, तुम्हारी सहायता कर नहीं सकता। तुम्हारे पिता भी थोड़ा रुपया छोड़ गये थे, उसे मैंने धीरे धीरे तुम्हारे पास भेज दिया। अब तुम्हारी गुज़र कैसे होगी ? तुम अपना पढ़ना कैसे जारी रक्खोगे ?"

कलानिधि सुन कर पहले तो चुप रहा। उसकी आँखों में आंसू आ गये। फिर उसने साहस करके कहा—

" देखा जायगा। "

छविनाथ की हिन्दी की पढ़ाई समाप्त हो चुकी थी। कलानिधि इस बार की गरमी की छुट्टी के बाद उसको भी लेकर बिलासपुर चला। जाते समय उसने विशम्भरनाथ से कहा—

" काकाजी, आप छविनाथ के लिये प्रतिमास थोड़े से रुपयों का प्रबंध कर दिया कीजियेगा, मेरे लिये चिन्ता न कीजियेगा। "

३

कलानिधि ने बिलासपुर में दो लड़कों के पढ़ाने का कार्य करके कुछ रुपये कमाना आरंभ किया। कुछ दिनों के बाद वह अपने ही रुपयों से छविनाथ की भी गुज़र चलाने लगा। जो रुपये विशम्भरनाथ छविनाथ के लिये भेजते थे उनको जमा करता था।

अबकी बार गरमी की छुट्टी में वह घर बड़े आनन्द के साथ लौटा। उसे उम्मीद थी कि अंग्रेजी की प्रवेशिका परीक्षा वह प्रथम श्रेणी में पास हो जायगा।

एक दिन उसने विशम्भर नाथ से कहा—"काका जी, एक बात बताऊँ, मगर पहले बताइये कि आप क्या इनाम दीजियेगा ?"

विश्वम्भर—" कुछ कहो भी तो।"

कलानिधि—"उसमें मेरा अपराध भी है और मेरी बहादुरी भी।"

विश्वम्भर—"बात क्या है ?"

कलानिधि—"एक दिन बिलासपुर में दोपहर के समय मैं छविनाथ को नदी के किनारे छोड़ कर पास के बगीचे में बिही (अमरूद) खा रहा था। मैं दूर से उसे देख तो रहा था पर मेरा ध्यान बिही की तरफ़ अधिक था। इसी बीच में छविनाथ नदी में नहाने लगा। न जाने कैसे वह नदी में बह चला। जब मैंने उसे बहते देखा तब दौड़ के नदी में कूद पड़ा। बड़ी कठिनता से उसे पानी से निकाला। बच गये नहीं तो हम दोनों बह गये थे।"

विश्वम्भर नाथ ने कलानिधि को गले से लगाते हुये कहा—"इसमें तुम्हारी बहादुरी ही है, अपराध कुछ नहीं। "

कलानिधि—"और सुनिये।"

विश्वम्भर—कहो।

कलानिधि—"जो मैं लड़कों को पढ़ाकर पाता था उससे मेरा और छविनाथ दोनों का निर्वाह हो जाता था। अतएव १०) माहवार के हिसाब से जो आपने ८ महीने में ८०) भेजे थे वे बच गए हैं। ये लीजिये।"

विश्वम्भरनाथ ने कलानिधि को फिर गले लगा लिया और रोने लगे। अन्त में वे बोले—

"कलानिधि बेटा, तुम मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारा बड़ा अपराधी हूं।"

कलानिधि—" काकाजी, आप ऐसा क्यों कह रहे हैं ? "

विश्वम्भर—"तुम्हारे पूज्य पिता जी मुझ पर बहुत विश्वास करते थे। तुम्हारी माँ से छिपा कर उन्होंने १००००) मेरे पास धीरे धीरे जमा किये थे। तुम्हारी काकी को भी यह बात नहीं मालूम थी। उन्हों ने चाहा था कि वे तुम्हें अन्त समय में ये रुपये दे देंगे, परन्तु तुम उनके मृत्यु के समय आ नहीं पाए। रुपयों का हाल मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता था। अतएव मेरे मन में उन्हें हड़प जाने की कुवासना उत्पन्न हुई। परन्तु आज तुम्हारे उपकारों को देख कर वह कुत्सित विचार हृदय से दूर हो गया। कदाचित थोड़ी देर के बाद मेरे हृदय में फिर मैल आ जाता, इसलिये मैंने तुमसे एक दम उन रुपयों की बात बता दी—क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगे ?"

कलानिधि—"मेरे रुपये, आप ही के तो थे। उन्हें लेने की वासना कुवासना क्यों थी ?"

विश्वम्भरनाथ ने रो कर कहा—"बेटा, अब मुझे और लज्जित न करो।"

कलानिधि—"अच्छा जाने दीजिये वह बात—मैं उनमें से छविनाथ को २०००) देता हूँ।"

अपरिचय

रामनाथ खेल में बड़े दक्ष थे। वे हाकी, क्रिकेट, फुटबाल तीनों इस खूबी के साथ खेलते थे कि देखने वाले दंग रह जाते थे। उनके कालिज के प्रिंसिपल की इसी कारण उन पर अतीव कृपा थी। प्रिंसिपल साहब बड़े सहृदय, बड़े उत्तम प्रकृति के थे। उनका नाम था श्रीचन्द्र। अभी अभी उनकाविवाह—गर्ल्स कालिज की प्रिंसिपल सरोजिनी देवी, एम० ए०, के साथ हुआ था।

प्रिंसिपल साहब अपने भेंट-मुलाक़ात के कमरे में बैठे हुए थे। इतने ही में किसी कार्यवश रामनाथ आ पहुँचे। दोनों में यों ही बात-चीत होती रही। इतने में सरोजिनी देवी वहाँ आ पहुँचीं। वे बेधड़क कमरे में चली आईं और रामनाथ के पास ही एक कोच खींच कर बैठ गईं। रामनाथ ने उठकर उनका अभिवादन किया।

प्रिंसिपल साहब ने मुस्कुराते हुए कहा—

"आप हमारे कालिज के सब से अच्छे खिलाड़ी हैं, आपकी इस शहर में बड़ी ख्याति है। आपका नाम रामनाथ है।"

रामनाथ का नाम सुनकर सरोजिनी देवी ने उन्हें सिर से पैर तक देखा और बड़ी शिष्टतापूर्वक उन्हें बैठने का संकेत किया। प्रिंसिपल साहब उनकी इस चेष्टा का कारण न समझ सके, और समझने की उन्होंने चिन्ता भी न की। हँसते हुए उन्होंने रामनाथ से कहा—

" रामनाथ ज़रा इन्हें भी सुना दो कि एफ़० ए० के इम्तिहान में तुम कितने बार फेल हुए।"

रामनाथ ने एकदम निःसंकोच भाव से वैसे ही हँसते हुए उत्तर दिता—

" छै बार "।

सरोजिनी देवी को आश्चर्य हुआ। वे अपनी परीक्षा में हर साल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होती आईं थीं। वे समझ ही नहीं सकती थीं कि कोई कैसे फेल हो सकता है। उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा " छै बार!"

प्रिंसिपल साहब ज़ोर से हँस पड़े। उन्होंने कहा—

" इन्हें विश्वास ही नहीं होता भाई रामनाथ।

ये कैसे समझ सकेंगी कि कोई छै बार फेल हो सकता है। इन्होंने सभी परीक्षाएँ प्रथम ही बार प्रथम श्रेणी में पास की हैं। मैं तो एक आध बार प्रथम श्रेणी प्राप्त करने में चूक भी गया था।"

रामनाथ ने मुँह बनाते हुये कहा (उसे प्रिंसिपल साहब ने जान-बूझ कर ढीठ कर रक्खा था। वह उनका विदूषक सा था।)—

" परन्तु मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि आपको खेलने का ए. बी. सी. भी न आता रहा होगा।" सरोजिनी देवी और प्रिंसिपल साहब दोनों हँस पड़े। प्रिंसिपल साहब ने फिर कहा—

" और यह भी बता दो कि बी० ए० में कितने सालों से फेल हो रहे हो।"

रामनाथ ने अत्यन्त लापरवाही के साथ उत्तर दिया—

" सिर्फ चार साल से । "

कहना नहीं होगा कि कमरा हास्य-ध्वनि से भर गया ।

सरोजिनी देवी ने प्रिंसिपल साहब से कहा—

" जलपान ठंढा हो रहा है । "

रामनाथ ने दोनों को प्रणाम करते हुए कहा—

" अच्छा तो मैं अब चलूँगा । "

यद्यपि भारतवर्ष के नगरों में अब कुछ अँग्रेजी सभ्यता का प्रभाव आ गया है और जलपान करते समय सामने बैठने वालों से जलपान के लिये पूछने की प्रथा लुप्त हो चली है परन्तु सरोजिनी देवी ने तुरन्त कहा—

" नहीं, नहीं आप जायँगे क्यों ? आप भी जलपान करने चलिये । "

रामनाथ को आश्चर्य हुआ । प्रिंसिपल साहब इतने सज्जन, इतने उदार-हृदय थे परन्तु उन्होंने भी कभी उसे जलपान के लिये निमंत्रित करने की आवश्यकता न समझी थी ।

उसने कहा—" नहीं, मुझे क्षमा कीजिये । "

सरोजिनी देवी ने मुस्कुराते हुये कहा—" आप इन्हें प्रिंसिपल की हैसियत से हुक्म दीजिये, तब ये मानेंगे । "

इस बात पर रामनाथ और प्रिंसिपल साहब दोनों मुस्कुराए । रामनाथ ने शिर नीचा करके वह निमंत्रण स्वीकार किया ।

उन लोगों ने उठकर जलपान के कमरे को प्रस्थान किया और वहाँ बैठे—

प्रिंसिपल साहब ने खाते खाते कहा—"क्यों रामनाथ, परीक्षक लोग तुम्हारे साथ अन्याय तो नहीं करते।"

"करते होंगे, पर मैं उनके सामने ऐसी बात कहने की हिम्मत नहीं रखता।"

प्रिं०—"तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं परीक्षक हूँ?"

रामनाथ—"सुनता ऐसा ही हूँ, सच हो तो माफ़ कीजियेगा।"

सरोजिनी देवी कुछ सोच-विचार में पड़ी थीं। रामनाथ की ओर बार बार देखती थीं। कुछ पूछना चाहती थीं, मगर पूछ न सकती थीं। प्रिंसिपल साहब यह बात ताड़ गये। उन्होंने सरोजिनी देवी की ओर देखकर कहा—

"आप इनसे कुछ पूछना चाहती हैं, परन्तु पूछती नहीं। इतने संकोच की क्या आवश्यकता है, पूछिये।"

सरोजिनी देवी कुछ देर तक चुप रहीं, फिर उन्होंने रामनाथ की ओर देखकर प्रश्न किया—

"आपका विवाह हो चुका है?"

रामनाथ ने हँसते हुए कहा—"आप मेरे विवाह की बात पूछती हैं? होने वाला था, पर नहीं हुआ—एक छोटी सी कहानी ही है, सुनियेगा।"

प्रिंसिपल साहब ने उत्सुकता पूर्वक कहा—

"हाँ—कहानी सुनने के लिये इससे उपयुक्त समय और कौन होगा?"

रामनाथ ने यों कहना आरंभ किया—

"मेरठ में एक लड़की थी। उसका नाम तो नहीं मालूम पर

वह उस समय नाइन्थ क्लास पास कर चुकी थी। मैंने सुना था कि वह पढ़ने में बहुत तेज़ थी। एक दिन एक पंडित जी उसकी जन्मपत्री लेकर मेरे पिता जी के पास आए। उन्होंने मेरी जन्मपत्री माँगी। मेरे पिता बहुत पुराने विचार के मनुष्य हैं। पहले तो उन्होंने जन्मपत्री देने से इन्कार किया। पंडित जी से इस प्रकार बातचीत करने लगे कि कहते लज्जा आती है। वे समझते थे कि पुत्र के पिता होकर वे अत्यन्त गौरवशाली मनुष्य हैं और लड़की के पिता को मनमाना तंग कर सकते हैं। पंडित जी के दो दिन अनुनय विनय करने पर उन्होंने जन्मपत्री दी। वह सौभाग्य या दुर्भाग्य से मिल गई। अब विवाह की बातचीत का आरंभ हुआ। मेरे पिता जी ने कहा "मेरा लड़का एन्ट्रेन्स पास कर चुका है। एन्ट्रेन्स पास लड़के आज कल बहुत कम हैं। अतएव मैं पाँच हज़ार रुपये से कम किसी प्रकार न लूँगा। पंडित जी चले गये। लौट कर जब वे आए तो लड़की के पिता जी भी उनके साथ थे। उन्होंने कहा कि मैं अपना घर बेच कर तीन हज़ार तक दे सकता हूं। मेरे पिता जी ने न माना। तब वे बिचारे पांच हज़ार पर राज़ी होकर चले गये। परन्तु फिर लौटकर कभी न आए।"

प्रिंसिपल साहब ने कहा—"यह तो बड़ी बुरी बात हुई, कहानी अधूरी ही रह गई।" फिर सरोजिनी देवी की ओर देख कर कहा—"अच्छी याद आई, आप तो मेरठ की ही रहने वाली हैं। आपको शायद मालूम हो कि आगे क्या हुआ।"

सरोजिनीदेवी ने मुस्कुराते हुए कहा—"हाँ मालूम है, सुनिये—

"उस लड़की को यह देख कर बड़ा दुःख हुआ कि पिता जी अपनी एक मात्र सम्पत्ति, घर बेचने पर तुले हुए हैं। उसे पिता जी से कहते संकोच तो बड़ा हुआ पर उससे रहा न गया। उसने उन्हें

घर बेचने का विचार छोड़ देने के लिए कहा। उसने उनसे बहुत विनय की पर वे न माने। उन्होंने घर बेच डाला। इसके अलावा उन्होंने उधार ले-ले कर एक हज़ार रुपया और इकट्ठा किया। इससे अधिक वे एकत्रित नहीं कर सके। उन्होंने इसी विचार से घर बेचा था कि उन्हे दो हज़ार रुपये और मिल जायँगे। अब वे बड़े संकट में पड़े। बेचारे बहुत चिन्तित हुए। जिसके हाथ घर बेचा था वह उसे लौटा लेने के लिये तय्यार न था। वे बहुत अधिक व्यग्र दीख पड़ने लगे। उन्हें लड़के के पिता से इस बात की आशा न थी कि वे चार हज़ार लेकर विवाह कर लेंगे। इसलिये उनके पास लौट कर नहीं गये। लड़की को उनकी यह दशा देखकर अतीव दुःख हुआ। पर उसे एक उपाय सूझा। उसने पिता जी से कहा—"पिता जी, आप जो रुपया उधार लाए हैं उसे लौटा दीजिये और तीन हज़ार मेरे नाम जमा कर दीजिये। मैं उसी से पढ़ूँगी। मेरा विवाह अभी न कीजिये। पिता जी को लड़की की यह वाचालता बुरी तो लगी, पर वे करते क्या! उनके कोई लड़का नहीं था। एक लड़की ही थी। उन्होंने बहुत सोच समझ कर वह रुपया महाजन के यहाँ जमा कर दिया। उसका उन्हें एक रुपया सैकड़ा माह वार व्याज मिलने लगा। उन्होंने एक छोटा सा घर किराए पर ले लिया। इस तरह बाप बेटी के दिन बीतने लगे। लड़की बड़ी तेज़ निकली। वह एन्ट्रेन्स में प्रथम श्रेणी में पास हुई। वह पढ़ने में अविश्रान्त परिश्रम करने लगी। उसका भाग्य अच्छा था। वह एफ़० ए० में भी प्रथम श्रेणी में ही पास हुई। यही हाल बी० ए० में भी रहा। अन्त में उसने एम० ए० भी प्रथम श्रेणी में पास किया। आज कल वह ——गर्ल्स कालिज की प्रिंसिपल है। अब उसके पिता बड़े आनन्द में हैं।"

जलपान समाप्त हुआ। रामनाथ ने दोनों का अभिवादन करते हुए जाने की आज्ञा प्राप्त की। उसके चले जाने पर प्रिंसिपल साहब ने सरोजिनीदेवी से कहा—

"मुझे नहीं मालूम था कि वह लड़की तुम्हीं हो। अन्यथा मैं तुमसे कहानी कहने के लिये कदापि न कहता। अच्छा हुआ कि रामनाथ को मैंने यह नहीं बताया था कि तुम किस गर्ल्स कालिज की प्रिंसिपल हो। उसे पता तो लग ही जायगा, पर यह अच्छा हुआ कि हम लोगों से उसे यह बात नहीं मालूम हुई।"

छल

दुलारी बाई के पति बड़े वकील थे। वह स्वभावतः किसी के घर आती जाती न थी। इसलिये पड़ोस की स्त्रियां भी उसके घर नहीं आती थीं। सब कहती थीं कि बड़ी होंगी तो अपने घर की, जब वे हमारे यहां नहीं आतीं तब हम क्यों जावें।

दुलारी बाई के घर में कोई और स्त्री न थी। घर गृहस्थी नौकरानी की सहायता से उन्हीं को चलानी पड़ती थी। वे पड़ोस की स्त्रियों की आने जाने की परवाह न करती हुई कभी किसी से कोई सहायता न माँगती थीं।

उन्हें एक और इच्छा थी। वह यह थी कि वे अपने लड़के का व्याह बड़े घर में करें। इस विषय में उनके पति की राय उनसे न मिलती थी। वे कहते थे कि छोटे घर की लड़की लाकर उस पर उपकार करना चाहिए। छोटे घर की लड़कियाँ गृहस्थी के कामों में भी दक्ष, सहनशील, मितव्ययी और दीनों पर दया करने वाली होती हैं। इसके अतिरिक्त छोटे घरों में सुन्दरता की भी कमी नहीं है, सुन्दर से सुन्दर लड़की मिल सकती है। इसके विपरीत दुलारी बाई का कहना था कि छोटे घर की लड़कियाँ, भद्दी, फूहड़ और ओछे स्वभाव की होती हैं, उनको घर में लाना कलह का बीज बोना है। वे कहती थीं कि नीचों का चरित्र नीच ही होता है, वह किसी प्रकार सुधरता नहीं। जो सदैव दया की

भिखारिणी रही है वह किसी पर दया करना क्या जानेगी, इत्यादि इत्यादि।

पति पत्नी में इस विषय पर घंटों बहस हुआ करती परन्तु कभी कोई निर्णय नहीं होता था। उनके पुत्र को भी इस विवाद की खबर थी। और यह विवाद उसके चिन्ता का कारण था। वह अपने पिता के मुन्शी जी की कन्या को चाहता था। वह उसके साथ लड़कपन से खेला था। स्निग्ध ऊषा के किरण-जाल में, नदी तट पर, वृक्षों की छाया में, दिवस-रजनी-मध्यस्था मनोहर संध्या में उसका हृदय उसके हृदय से मिला था। वह उसको हस्तगत करना अपने जीवन का परम ध्येय समझता था। परन्तु माता का स्वभाव उसे ज्ञात था। वे कभी उसकी प्रार्थना, रोने, अथवा हठ पर ध्यान देने वाली न थीं। वकील साहब को भी यह बात मालूम हो गई थी, और पास पड़ोस के लोगों को भी।

इधर कन्या के पिता मुंशी जी को बड़ी चिन्ता थी। उनको इतना साहस नहीं था कि अपने मालिक वकील साहब से अपनी कन्या के साथ अपने पुत्र के विवाह का प्रस्ताव करते। लड़की की अवस्था विवाह योग्य होगई थी, मगर विवाह कहीं लगता न था। जहाँ कहीं वे विवाह लगाने पहुँचते, वकील साहब के पुत्र रमाशंकर और उनकी कन्या सुशीला के प्रेम की कहानी उनसे पहले पहुँच जाती थी। इससे मुन्शी जी (रामप्रसाद) भी दुखी थे और वकील साहब (दयाशङ्कर) भी। परन्तु मुन्शी जी इस बात पर खीझते हुए भी कभी किसी पर क्रोध नहीं करते थे। वे जानते थे कि इसमें दयाशंकर का कुछ भी दोष नहीं था। वे अपने पुत्र का उनकी कन्या के साथ खेलना कैसे रोकते। वे यह भी जानते थे कि रमाशङ्कर और सुशीला भी निर्दोष हैं। वे प्रेम पैदा होने के

डर से साथ खेलना कैसे छोड़ देते। दुलारी बाई पर भी उनको क्रोध नहीं आता था। वे जानते थे कि वह लड़कपन से ही बड़े घर के वायु मंडल में पली हुई हैं। जिसके माता-पिता छोटों से, ग़रीबों से बातचीत करना भी अपनी मानहानि समझते हों वह ग़रीबों के घर अपने लड़के का ब्याह करना कैसे पसन्द कर सकेगी। अतएव वे रोते थे केवल अपने भाग्य को और उन लोगों की शैतानी पर जो गुमनामों के द्वारा रमाशंकर और सुशीला के प्रेम की कहानी सभी जगह पहुँचा देते थे।

यह नहीं कि दयाशंकर अपने पुत्र के साथ मुंशी जी की बेटी का ब्याह करना न चाहते हों पर बिचारे कर न सकते थे। वे सोचते थे कि दुलारी छोटे घर की कन्या से कभी सीधे बात भी न करेगी और जो लड़की आवेगी उसका जीवन संकट में पड़ जायगा। अतएव वे चुप ही रहते थे। इस विषय में अपने मुंशी जी से कोई बात न करते थे।

२

रमाशंकर आज सबेरे ही से रामप्रसाद के घर आया था। वह सुशीला से बातचीत कर रहा था।

रमाशंकर—तो अब मैं यहाँ न आया करूँ।

सुशीला ने कुछ व्यग्र होकर कहा—मैं नहीं कहती, पिता जी ने मुझे आप से मिलने जुलने से मना किया है। (यह कहते कहते सुशीला ने अपनी आँखें पोछ लीं)।

रमाशंकर—सुशीला, मेरा तो कोई दोष नहीं है।

सुशीला—पिता जी कहते थे कि दोष का सवाल नहीं है, बदनामी होती है।

रमाशंकर—तो क्या सचमुच मैं न आया करूँ ?

सुशीला रोने लगी। रमाशंकर से न रहा गया ; वह सुशीला की आँखें अपने रूमाल से पोछने लगा। उसी क्रिया में उसके करों ने सुशीला के कपोलों का स्पर्श किया। दोनों के शरीरों के रोएँ खड़े हो गये। इसी समय मुंशी राम प्रसाद ने घर में प्रवेश किया। यह दृश्य देख कर उन्हें बड़ा क्रोध आया। परन्तु वे क्रोध दबा कर शिष्टता पूर्वक बोले।

भय्या—यह क्या है, क्या तुम सचमुच मुझको कहीं का न रक्खोगे ?

रमाशंकर अत्यन्त लज्जित होकर चुप रह गया।

रामप्रसाद फिर बोले—

भय्या, अब तुम्हारा यहाँ आना जाना अच्छा नहीं मालूम होता।

रमाशंकर को अपने पिता के आश्रित के मुख से इस प्रकार अपमान जनक बात सुन कर बड़ा दुख हुआ, कुछ क्रोध भी हुआ। परन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि वह मुन्शी जी पर क्रोध दिखा ही न सकता था। उसने सोचा कि अभी यहां से चला जाऊँ और कभी इनके घर न आऊँ। परन्तु इस अभिमान को शिथिल करने वाला एक भाव हृदय के किसी कोने में सजग हो उठा। सुशीला पर उसका पूरा प्रेम था। वह इस घर में कभी पैर न रखने के विचार मात्र से विह्वल हो उठा। उसने नम्रता पूर्वक कहा—

देखिये काका जी, आप मुझ पर अन्याय कर रहे हैं—मेरा तो कोई दोष नहीं है।

रामप्रसाद अब अपने क्रोध को सम्हाल न सके। उन्होंने सोचा कि मेरी मर्यादा पर आघात हो रहा है और इस लड़के को यह पड़ी है कि किसका दोष है, किसका नहीं। उन्होंने तनिक तीक्ष्ण स्वर में कहा—

भय्या, तुम बी० ए० पास हो, तुमसे मैं बहस नहीं कर सकता, मगर यह तो बताओ कि दोष किसका है ? मेरा ?

रमाशंकर ने शिर नीचा कर लिया।

राम प्रसाद ने फिर कहा—क्या आप नितान्त निर्दोष हैं। यदि आप का सुशीला पर प्रेम है तो उससे विवाह कीजिये। यदि बाधाओं को एक ओर रख कर विवाह करने का साहस नहीं है तो उससे मिलना-जुलना छोड़िये। इतनी स्पष्ट बात भी आपकी समझ में नहीं आती।

रमाशंकर ने कुछ न कहा। वह चुपचाप खड़ा रहा।

राम प्रसाद बोले—घर में आने की मनाई नहीं है, जब मैं रहूँ आइये, आपका घर है। बेटा, बुरा मत मानो। परिस्थिति ऐसी है कि मुझको कठोर होना पड़ता है।

रमाशंकर की आँख में आँसू आ गये। समझता था कि मेरा प्रेम पवित्र है। उसमें बाधा देने का किसी को अधिकार नहीं है। सुशीला से वार्तालाप करने से कोई उसे क्यों मना करे। परन्तु अब उसने परिस्थिति समझी। उसने समझा कि अब वह युवा है और सुशीला युवती। दोनों के मिलने-जुलने में सिवाय अपवाद के और कुछ नहीं है। वह विचार करने लगा कि प्रेम है तो रहा करे, बात चीत करने—मिलने-जुलने की क्या आवश्यकता है ? इस समय उसे अपनी माता पर बड़ा क्रोध आया। वह उसके

सुख में बाधक हो रही है। बड़े घर की बेटी पाने की लालसा पर पुत्र का भावी जीवन बलिदान कर रही है। ऐसी माता किस काम की कि जिसे पुत्र के सुख का ध्यान नहीं। परन्तु इस पर भी उसका ध्यान गया कि उसकी माता यह बात नहीं जानती है कि उसका सुशीला पर इतना प्रेम है। वह स्वयं तो वयप्राप्त होने पर एक मनुष्य के गले मढ़ दी गई थी। वह क्या जाने कि संसर्ग से प्रेम कैसे उत्पन्न होता है। उसे इस बात का क्या पता कि लड़कपन से साथ खेलते हुये जीवन बिताने वाले प्रेमियों के प्रेम में बाधा देने से उन पर क्या बीतती है। पर फिर वह सोचने लगा कि माता के अज्ञान पर जीवन बलिदान करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? वह आवेश में आ गया और बोला—

काका जी, आप का कहना ठीक है। मुझमें अब तक साहस की कमी थी। पर आज आप की बातों ने उसे जागृत कर दिया। मैं आप से कहे देता हूं कि मैं विवाह करूँगा तो सुशीला से, नहीं तो नहीं।

मुंशी जी उसकी इस प्रतिज्ञा पर प्रसन्न तो हुये परन्तु उन्होंने देखा कि इस प्रतिज्ञा के कारण बड़ा अनर्थ उपस्थित होगा। वे अपनी मालकिन के रौद्र स्वभाव से भली भांति परिचित थे, और अपने मालिक को संकट में डालना नहीं चाहते थे। उन्होंने रमाशंकर को समझाया कि तुम्हें ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये। माता पिता की आज्ञा का उल्लंघन तुम्हारे लिये उचित कार्य न होगा। तुम्हारे लिये केवल यही उचित है कि सुशीला से मिलना जुलना बन्द कर दो और पढ़ने लिखने में ध्यान लगाओ। रमाशंकर को मुंशी जी का उपदेश सुन कर उनकी स्वामि भक्ति और त्याग भाव पर आश्चर्य हुआ। उसने सोच लिया कि पिता जी को

मैं इस घटना की सूचना अवश्य दूँगा। उसके मन में आज से मुंशी जी के लिये बहुत अधिक सम्मान हो गया। मुंशी जी की बातें उसे उचित न जान पड़ीं, पर उसने उनका प्रतिवाद नहीं किया। उनके प्रति सम्मान के भाव ने उसे चुप रक्खा। वह मन में कहने लगा—ऐसे सुन्दर हृदय के मनुष्य पर ऐसा संकट आया है। किसी प्रकार उससे उसका उद्धार होना चाहिये। अन्त में उसने बड़े सम्मान के साथ उनको प्रणाम किया और घर चला आया।

३

सरल हृदय रमाशंकर ने घर जाकर वह घटना ज्यों की त्यों पिता जी से कही। दयाशंकर सब सुनकर कई भावनाओं से अभिभूत हुए। कुछ तो उनका मनोरंजन हुआ, पुत्र की विद्रोहमयी प्रतिज्ञा पर कुछ क्रोध आया और रामप्रसाद के त्याग और स्वामि-भक्ति पर बड़ा सन्तोष हुआ। अब तक वे दयाशंकर को साधारण सेवक समझते थे पर इस समय से उनके हृदय में दया शंकर का स्थान हो गया। साथ ही उनको अपनी पत्नी के अवि-चार पर असन्तोष हुआ। उन्होंने सोचा कि वह इस घटना को कुछ महत्त्व न देगी। उसका स्वभाव उच्चकुलाभिमान से भरा हुआ है। वह कहेगी कि रामप्रसाद वैसा न करता तो उसकी कृतघ्नता थी, साथ ही वह रमाशंकर पर क्रुद्ध होगी और उसके विद्रोह के भाव पर उससे न जाने कैसा बर्ताव करे। इसी से उन्होंने दुलारी बाई से कुछ नहीं कहा। पुत्र से केवल इतना कहा कि तुम्हें राम प्रसाद के यहाँ नहीं जाना चाहिये, हम लोगों की आज्ञा के विरुद्ध कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये, और अपने काम में लग गये।

इसके थोड़े दिनों के बाद दुलारी बाई बीमार पड़ गईं। घर में कोई नहीं था। महराजिन केवल भोजन बना देने को लगी थी। अतएव दुलारी बाई को कष्ट होने लगा। रमाशंकर उसकी थोड़ी बहुत सेवा-सुश्रूषा कर देता था। परन्तु वह दिन भर तो घर में रहता न था।

कुछ दिन बीत गए। दुलारी बाई की तबीयत अच्छी न हुई। दयाशंकर, रमाशंकर और रामप्रसाद ने इस विषय में सलाह की। रमाशंकर की पढ़ाई में विघ्न होता था इसलिये उसे छात्रालय भेज दिया और कानपूर के एक रईस मित्र की पुत्री को दुलारी बाई की सेवा-सुश्रूषा के लिये बुलाना निश्चित हुआ। इसी निश्चय के अनुसार काम किया गया।

दुलारी बाई को इस ज्वर से बहुत कष्ट था। किसी प्रकार ज्वर उतरता ही न था। इस समय उनके मन में आता था कि घर में बहू होती तो अच्छा था। वे सोचती थीं कि बड़े घर की लड़की मेरी सेवा-सुश्रूषा न करती। उसे पलँग पर से उतरना ही अच्छा न लगता। फिर सोचती—यह मेरी भूल है। बड़े घर की लड़की में सहानुभूति और सेवा का भाव क्यों न होगा। इसी सोच विचार में वे पड़ी रहती थीं कि एक दिन दयाशंकर ने आकर कहा— मैंने तुम्हारी सेवा-सुश्रूषा के लिये अपने कानपुर के एक मित्र की पुत्री को बुलाया है। वह आती ही होगी।

दुलारी बाई—दूसरे की लड़की हमारी सेवा-सुश्रूषा क्या करेगी ? उसे क्यों बुलाया ? फिर बड़े आदमी की लड़की...... क्यों तुम्हारे मित्र बड़े आदमी ही हैं न !

दयाशंकर—हाँ हैं तो बड़े आदमी ही—क्यों ?

दुलारीबाई—बड़े आदमी की लड़की मेरे लिये कष्ट क्यों सहेगी ?

दयाशंकर—यह तो आज तुम से एक नई बात सुन रहा हूँ। तुम तो बड़े आदमी की लड़की ही घर में लाने वाली हो।

दुलारीबाई—मालूम नहीं क्यों, इस बीमारी की अवस्था में मुझे ऐसा मालूम होता है कि बड़े आदमी की लड़की मेरी सेवा नहीं करेगी।

दयाशंकर—खैर ! अब तो मैं अपने मित्र को लिख ही चुका हूँ।

दुलारीबाई चुप रहीं। दूसरे दिन दया शंकर के मित्र की लड़की आ गई। उसके रूप का कुछ कहना नहीं था। मानो चाँद का टुकड़ा थी। स्वभाव भी प्रथम ही दृष्टि में अच्छा मालूम होता था। उसने आते ही दुलारीबाई के चरण छुये और सिराने बैठ कर बोली—

माँ, तुमने मुझे पहले से क्यों न बुला भेजा ?

दुलारीबाई—बिटिया, मैंने समझा था कि तबीयत यों ही ख़राब है, जल्दी ही अच्छी हो जावेगी।

लड़की—माँ, तुमको बहुत कष्ट हुआ। अब कोई कष्ट न होने पावेगा।

आगन्तुक लड़की ने अपनी बात सत्य करके दिखला दी। उसने दुलारी बाई की ऐसी सेवा की कि दुलारी बाई को यह कभी मालूम नहीं होने पाया कि वह स्वयं उनकी पुत्री नहीं है। वह दिन भर बैठी रहती, रात भर बैठी रहती। अपने भोजन की उसे परवाह न थी, सोने की चिन्ता नहीं थी। वह निकृष्ट से निकृष्ट

काम करने से न हिचकती थी। महराजिन से पथ्य बनाते न बनता था तो वह स्वयं बना लाती थी। यदि नौकरानी ठीक झाड़ू न देती थी तो वह स्वयं दे लेती थी। कोई भी काम उसके लिये कठिन न था। दुलारी बाई को उसने इतना आराम दिया, उनसे इतना स्नेह किया कि वे उस पर मुग्ध हो गईं। दुलारी बाई ने मन में सोचा कि मेरी यह शंका व्यर्थ है कि बड़े घर की लड़कियाँ काम करने वाली नहीं होतीं।

दो माह के बाद दुलारी बाई पूर्णतया स्वस्थ हो गईं। उनके आग्रह से लड़की कुछ दिन वहाँ और रही परन्तु एक दिन वह दुलारी बाई को रोती छोड़ कर कानपुर चली ही गई। दुलारी बाई को उसके जाने पर बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने दूसरे दिन दया-शंकर से कहा—

क्यों जी, क्या इस लड़की से रमाशंकर का व्याह नहीं हो सकता?

दयाशंकर—उसके पिता बहुत बड़े जिमीदार हैं। उनके सामने मेरी हैसियत क्या है जो मैं उनसे उनकी लड़की को अपने पुत्र से व्याहने का अनुरोध करूँ!

दुलारीबाई—अनुरोध कर देखो न।

दयाशंकर—उनकी स्त्री अपनी हैसियत का तुमसे भी अधिक ख्याल रखती हैं।

दुलारीबाई को दया शंकर के मित्र की स्त्री पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कहा—तो उनसे मत अनुरोध करो।

दयाशंकर—उन लोगों से तो मैं अनुरोध नहीं करूँगा। पर तुम सुशीला से रमाशंकर का व्याह क्यों नहीं होने देती हो?

दुलारीबाई—सुशीला को अभी तक मैंने देखा नहीं। लड़कपन से हमारा लड़का मुन्शी जी के घर जाया करता है—उनके घर रहा भी करता है, पर मुन्शी जी ने सुशीला को कभी हमारे यहाँ नहीं भेजा।

दयाशंकर—तुम्हारा स्वभाव ऐसा है कि तुम ग़रीबों के लड़के लड़कियों की ओर ध्यान ही नहीं देतीं। तुमने कभी सुशीला को बुलाया था ?

दुलारीबाई—मैं बुलाऊँ तभी वे भेजें ! अपने मन से नहीं भेज सकते थे ?

दयाशंकर—मुन्शी जी बड़े आत्माभिमानी मनुष्य हैं। वे तुम्हारे लड़के को नित्य बुला ले जाते थे, परन्तु तुम उनकी लड़की को कभी नहीं बुलाती थीं, इसीलिये उन्होंने कभी नहीं भेजा।

दुलारीबाई—नहीं भेजा तो अच्छा किया। ऐसे अभिमानी आदमी से सम्बन्ध करना मैं नहीं चाहती। हमारा उनका सम्बन्ध ! तुम कैसे आदमी हो।

दयाशंकर—हाँ, ठीक है, राजा रंक का सम्बन्ध तो बड़ा बुरा है, पर रमाशंकर तो प्रतिज्ञा किये बैठा है कि मैं सुशीला से ही ब्याह करूँगा।

दुलारी बाई ने अत्यन्त खिन्न होकर कहा—

जब बाप बेटे दोनों की राय है तो ठीक है। मैं बाधा नहीं देती। ब्याह कर दो। उसके बाद मेरे लिये एक दूसरे घर में रहने का प्रबन्ध कर देना।

दयाशंकर—वह प्रबन्ध हो सकता है। मेरी राय तो कुछ

नहीं—परन्तु लड़के का जीवन दुखमय करना अच्छा नहीं। हम तुम अलग रहेंगे, वे दोनों अलग रहेंगे, इसमें हानि क्या है? आगे तुम्हारी जैसी मर्ज़ी।

दुलारी बाई—ठीक है। परन्तु तुमने रमा शंकर को बोर्डिंग भेज कर इस लड़की को (जो मेरी सेवा करने आई थी) देखने नहीं दिया। नहीं तो वह इसी से व्याह करना चाहता। लड़कों के भाव में कोई स्थिरता नहीं रहती।

दयाशंकर—भाव में स्थिरता नहीं होती तो उसे स्थिर होने देना चाहिये। यह तो ठीक नहीं है कि प्रलोभन से उनका भाव विचलित किया जाय।

दुलारी बाई—आप तो इस समय बहुत ऊँची बात कह रहे हैं, परन्तु दुनिया का इस ऊँचाई पर रहने से काम नहीं चल सकता। इस विषय पर दूसरी तरह से भी विचार हो सकता है। यदि प्रलोभन से भाव अस्थिर हो जाय तो उसे भाव नहीं कहना चाहिये। प्रलोभन ही भावों की कसौटी है। आज आप उसे कसौटी पर नहीं कसते, कल वह प्रलोभन के फेर में पड़ कर अस्थिर हो जावेगा।

दयाशंकर—आपके आगे तो मेरी वकालत मात है। ख़ैर देखा जायगा।

४

दयाशंकर—मुन्शी जी, आप मुझसे विवाह का ख़र्च ले लीजिये और सुशीला को किसी योग्य वर को सौंप दीजिये।

रामप्रसाद—सर्कार, मैं आपकी कृपा के लिये हृदय से अनुग्रहीत हूँ। परन्तु आपने मेरा अभिप्राय नहीं समझा। मेरे कहने का यह मतलब नहीं था कि सुशीला के विवाह की कठिनाई

खर्च का न होना है। यह भी मेरा मतलब नहीं कि आपसे रुपया लेकर मैं अधिक दहेज देकर बड़े घर में ब्याह करूँ। कठिनाई तो यह है कि उसका विवाह ही नहीं लगता। अतएव आपसे प्रार्थना है कि आप अपने प्रभाव के बल से कहीं उसका विवाह लगाइये।

दयाशंकर—अच्छा यह मतलब है। तो भी क्या मुझसे रुपया लेने में आपको इनकार है ?

रामप्रसाद—हाँ सर्कार, आप इसके लिये मुझे क्षमा कीजिये। मेहनत का बदला मैं ले सकता हूँ—वैसे आपसे भी लेने में इनकार है।

दयाशंकर—मुन्शी जी आप धन्य हैं—फिर एक काम कीजिये, आपने मेरे कानपुर वाले मित्र के यहाँ सुशीला को भेजा था न ! तभी जब मित्र की लड़की मेरे यहाँ आई थी। उसको कुछ दिन के लिये वहाँ फिर भेज दीजिये। अबकी बार मेरे मित्र उसके लिये योग्य वर अवश्य खोज देंगे।

रामप्रसाद—वे तलाश कर सकते तो जब वह वहाँ रही तभी न तलाश कर देते।

दयाशंकर—मुंशी जी, अब की बार तो उन्होंने उसकी मेहमानी करने में ही सारा ध्यान लगाया। दूसरी बात यह है कि वे सुधारक ठहरे। वे कहते थे कि अभी सुशीला की अवस्था विवाह के योग्य ही नहीं। मैंने उनसे बहस करके उनको अब इस बात पर राजी कर लिया है कि वे सुशीला के विवाह की ओर ध्यान दें। अबकी वे अवश्य प्रयत्न करेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे लड़की दिखला भी देंगे और विवाह निश्चित्त हो जायगा।

रामप्रसाद—लड़की दिखलाना तो मुझे पसंद नहीं है।

दयाशंकर—अच्छा न सही, लड़की न दिखलाएँगे।

बड़ी कठिनता से रामप्रसाद सुशीला को कानपुर भेजने पर राज़ी हुए। उसको भेजने के तीसरे दिन जब वे दयाशंकर के पास आए तब उनमें यों बातचीत होने लगी—

दयाशंकर—मुंशी जी, रमाशंकर का विवाह कानपुर वाले मित्र की लड़की के साथ निश्चित होगया है। अब प्रबंध कीजिये।

रामप्रसाद—मैं भी समझता था कि ऐसा ही होगा।

इतना कह कर मुंशी जी मुस्कुराए और फिर बोले—शायद वकीलिन साहबा को दिखलाने के लिये ही आपने सुशीला को कानपुर भेज कर अपने मित्र की लड़की को यहाँ बुलाया था।

दयाशंकर—जी हां। इसमें भी कोई सन्देह है—एक पंथ दो काज।

रमाशंकर के विवाह की तय्यारियां हुईं। दयाशंकर बड़ी धूम धाम से बरात ले गए और मित्र की लड़की को व्याह ले आए। वे जिस दिन व्याह के घर लौटे उसी दिन मुंशी जी ने उनसे कहा—

सुशीला को कब बुलाने की आज्ञा है—

दयाशंकर—अभी थोड़े दिन वहीं रहने दीजिये न। मेरे घर में पुत्रवधू प्रवेश हो जाय तो इसके बारे में बात चीत करूँ।

रामप्रसाद—अच्छा कुछ दिन बाद ही बुला लूँगा, मगर एक चिट्ठी लिखिये।

दयाशंकर—कैसी चिट्ठी ?

रामप्रसाद—मैं तो बरात आपके साथ गया नहीं था। आप मुझे घर पर चौकीदारी के लिये छोड़ गये थे। इस बीच में मैंने सुशीला के विवाह के लिये प्रयत्न किया। एक वकील साहब ने कहा है कि अपने मालिक की शिपारसी चिट्ठी ले आओ तो मैं अपने पुत्र के साथ तुम्हारी कन्या का विवाह कर लूँगा।

दयाशंकर—क्या दहेज लेंगे ?

रामप्रसाद—सात हज़ार।

दयाशंकर—आप रुपये मुझसे तो लेंगे नहीं, कहां से आएँगे ?

रामप्रसाद—घरद्वार बेच दूँगा।

दयाशंकर—अच्छा मैं चिट्ठी लिख देता हूँ—ले जाओ !

यह कह कर वकील साहब ने लिफ़ाफ़े में चिट्ठी बन्द करके उन्हें दे दी। वे उसे लेकर उन वकील साहब के यहां गये जिन्होंने उनको अपने पुत्र से सुशीला का व्याह करने का वचन दिया था। वकील साहब ने उन्हीं के सामने पत्र खोला। उन्होंने उसे पढ़ कर उनके सामने फेंक दिया और बोले—

आप किस मुँह से अपनी पुत्री के साथ मेरे पुत्र का विवाह करना चाहते हैं ?

रामप्रसाद—क्यों, क्या हुआ।

वकील साहब—पत्र पढ़ देखिये न !

रामप्रसाद ने पत्र पढ़ा—उसमें जो लिखा था उसका सारांश यह है—

"मेरे पुत्र और सुशीला की प्रेम कहानी तो आपने सुनी ही होगी। अतएव आपको यह उचित नहीं है कि यह संबंध करें।"

मुंशी जी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। वे तुरन्त लौटे। उन्होंने सोचा कि आज से इस दुष्ट के यहां नौकरी नहीं करूँगा और ऐसा फटकारूँगा कि वह भी याद करेगा। यही सोचते सोचते वे वकील साहब के घर पहुँचे। वकील साहब इस समय भीतर थे। उन्होंने उन्हें बुलवा भेजा। वकील साहब ने उन्हें भीतर ही बुलवाया। वे भीतर जाते ही न थे। नौकर के बहुत प्रार्थना करने पर उनका क्रोध कुछ शान्त हुआ और उन्होंने सोचा कि नौकर ठीक कहता है—इतना क्रोध उचित नहीं, आखिर वे मालिक ही हैं। न जाने क्या सोच कर उन्होंने ऐसा किया। भीतर जाकर उन्होंने देखा कि दुलारी बाई पुत्र बधू का मुख देखने जा रही हैं। (दुलारी बाई उनके सामने निकलती थीं) वे चुप चाप खड़े होगये। दयाशंकर ने उन्हें और नज़दीक बुलाया। वे क्रोध से लाल नेत्रों से वकील साहब की ओर देखते हुये निकट आए। वकील साहब को मुस्कुराते देख कर उनका क्रोध और भड़क उठा। वे केवल समय न देख कर ही नहीं बोल रहे थे। इतने ही में दुलारी बाई ने पुत्रवधू का घूँघट खोला। दुलारी बाई को जो आशा थी वही हुआ। वकील साहब के साथ लड़ झगड़ कर उन्होंने उन्हें रमाशंकर का ब्याह सुशीला से नहीं करने दिया था। जिस प्रिय बालिका का मुख वे देखना चाहती थीं वही उन्हें देखने को मिला। इसी लड़की ने उनकी सेवा-सुश्रूषा की थी। वे उसका मुख देख के अत्यन्त प्रसन्न हुईं और दान करने लगी। परन्तु पुत्रवधू का मुख देख कर मुंशी जी अवाक रह गये। पुत्रवधू उनकी प्यारी पुत्री सुशीला ही थी। उन्होंने दयाशंकर की ओर देखा और कृतज्ञता से सिर झुका लिया। दयाशंकर ने उन्हें वहाँ से चले जाने का इशारा किया। वे चुपचाप खिसक गये।

दयाशंकर—सुनो तो—इस लड़की का नाम जानती हो।

दुलारी बाई—नहीं तो, नाम तो मैंने कभी पूछा ही न था।

दयाशंकर—इसी का नाम "सुशीला" है।

दुलारी—तुम मुझे चिढ़ाने के लिये यह बात कह रहे हो।

दयाशंकर—नहीं सचमुच—मेरे कानपुर वाले धनी मित्र के कोई लड़की न थी, परन्तु वे कन्यादान करना चाहते थे। अतएव उन्होंने सुशीला को अपने यहां बुला कर कन्यादान किया।

दुलारी बाई हँसती हुई बोलीं—तुम बड़े धूर्त हो—अच्छा, सुशीला ही सही—मुझे कोई दुख नहीं, मैं जिसको पुत्र वधू बनाना चाहती थी वही मेरी पुत्रवधू हुई—मैं प्रसन्न हूँ।

दयाशंकर हँसते हुए बाहर चले गए।

रामप्रसाद उनकी राह देख रहे थे। उनके आते ही वे उनके चरणों पर गिर पड़े। दयाशंकर ने उन्हें उठाया और गले लगा लिया। रामप्रसाद की आँखों से हर्ष के आँसू बहने लगे। उन्होंने पूछा—भला आपने इतना धोखा क्यों दिया ?

दयाशंकर—अन्यथा आप के ऊपर खर्च का बोझ पड़ता। आप कभी यह स्वीकार न करते कि आपके बदले मेरे मित्र कन्या-दान करें। वे कन्यादान करना ही चाहते थे। खासा मजाक भी रहा।

वर-परीक्षा

१—प्रतिज्ञा-प्रकाश

रामकुमार ने बड़ी गम्भीरता पूर्वक व्रजेन्द्र से कहा—आखिर तुम क्यों विवाह न करोगे ?

व्रजेन्द्र ने मुस्कुरा कर कहा—भाई, बहुत सी बातें ऐसी होती हैं कि बताई नहीं जा सकतीं, पूछने वाला चाहे जितना घनिष्ट मित्र हो।

रामकुमार उदास हो गये। उन्होंने अपने मुख को प्रसन्न बनाने की चेष्टा करते हुए कहा—भाई, तुम्हारा यह सिद्धान्त मुझे नहीं मालूम था, नहीं तो मैं न पूछता। इतना ही नहीं अब कभी कोई बात पूछने की चेष्टा न करूँगा।

व्रजेन्द्र ने रामकुमार का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा—तुम रुष्ट होगये। मैं क्या बताऊँ और कैसे बताऊँ ?

रामकुमार—मत बताइये।

व्रजेन्द्र ने विरक्त होते हुए कहा—यह तो अच्छी बात नहीं। तुम ऐसी ज़रा-ज़रा सी बात पर रुष्ट होगे तो कैसे काम चलेगा।

रामकुमार ने मुस्कुरा कर कहा—भाई मैं रुष्ट नहीं होता। परन्तु मुझे इस बात का शोक अवश्य है कि आप मुझसे कोई बात छिपाते हैं, खास कर ऐसी अवस्था में जब मैं आपसे कोई बात नहीं छिपाता।

ब्रजेन्द्र—मैं छिपाता केवल इस लिए हूँ कि उस बात को सुनकर तुम मेरे लड़कपन पर हँसोगे—मेरी प्रतिज्ञा पर विश्वास नहीं करोगे, और कोई बात नहीं है।

रामकुमार—तब तो और मज़ेदार बात है—हँसने और अविश्वास करने का तो मौक़ा मिलेगा। अब तो मैं वह बात बिना पूछे नहीं रह सकता। बालक को मिठाई दिखाकर उसे उससे वञ्चित रखने का तुम्हें क्या अधिकार है ?

ब्रजेन्द्र चुप रह गए। थोड़ी देर तक वे कुछ बोले ही नहीं।

रामकुमार ने कहना आरम्भ किया—अब मौनी बाबा बन जाओगे क्या ? बाबा बनने का लक्षण तो मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ, परन्तु मौनी बाबा बनने के लक्षण आज ही देख पड़े हैं।

ब्रजेन्द्र फिर भी चुप रहे। राम कुमार ने उन्हें गुदगुदाना शुरू किया। ब्रजेन्द्र ने यह देखकर कि किसी भी प्रकार पीछा नहीं छूटेगा कहा—भाई आज मुझे क्षमा करो दूसरे दिन बताऊँगा।

रामकुमार ने कहा—हाँ, अब तुमने आज्ञाकारी बालक के समान बात की है।

दूसरे दिन रामकुमार ने गम्भीर होकर पूछा—भाई, छै महीने में ही मुझे तुमसे इतना स्नेह हो गया है कि तुम्हारे मन की बात जाने बिना मुझे चैन नहीं। जब से मुझसे तुमसे अचानक भेंट हुई तभी से मैं तुम्हें उदास पाता हूँ। यदि तुम्हारा इतना घनिष्ठ होकर भी मैं तुम्हारे दुख में साथी न हो सका तो मेरा तुम्हारा साथी होना ही व्यर्थ है।

ब्रजेन्द्र ने कहा—यह ठीक है, परन्तु मन का भेद जब तक गुप्त रहता है तब तक उसमें अधिक गम्भीरता रहती है, प्रतिज्ञा

जब तक मुँह से कही नहीं जाती, तब तक उसमें अधिक दृढ़ता रहती है।

रामकुमार—तुम भूल रहे हो। मुझसे कहना किसी से न कहने ही के बराबर है।

व्रजेन्द्र—अच्छा तुम नहीं मानते हो तो सुनो। यहाँ के एक रईस की लड़की को मैं पढ़ाता था। उसी से मुझे प्रेम होगया। वह भी मुझसे प्रेम करने लगी। यह बात उसके माता पिता को मालूम हो गई। उन्होंने मुझे अलग कर दिया। उसके बहुत दिनों बाद मुझसे तुमसे भेंट हुई। यही कारण है कि तुम मुझको सदा उदास पाते हो।

रामकुमार—अच्छा यह तो मालूम हुआ। पर तुमने प्रतिज्ञा कौन सी कर रक्खी है?

व्रजेन्द्र—कि अब मैं विवाह ही न करूँगा।

रामकुमार—तब तो देखता हूँ कि इस कलिकाल में एक दूसरा भीष्म पैदा हो गया है। केवल विवाह न करने के कारण में भेद है।

व्रजेन्द्र—अब तुम लगे दिल्लगी उड़ाने।

रामकुमार—अच्छा यह भी तो बताओ कि वे कौन रईस थे?

व्रजेन्द्र—एक रईस को दूसरे रईस के बारे में ऐसी बात नहीं जाननी चाहिए। बस मैं इतना बता सकता हूँ कि वे इसी शहर के हैं!

रामकुमार—नाम भी बताओ।

व्रजेन्द्र—नाम न बताऊँगा।

रामकुमार ने अधीर होकर कहा—अरे यार बताओ भी।

व्रजेन्द्र—पूछ कर करोगे क्या ? तुम ताड़ गए होगे कि लड़की सुन्दर है; तुम्हारा हाथ मारने का विचार है क्या ?

रामकुमार—हाँ, क्यों नहीं, तुम्हारी प्रेमिका पर क्या मेरा कुछ अधिकार ही नहीं है ?

व्रजेन्द्र—अच्छा अधिकार जमाना है तो सुनो। उनका नाम है श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ जी।

रामकुमार का चेहरा एकाएक फीका पड़ गया। उन्होंने अपने को कठिनता से सम्हाला। व्रजेन्द्र उस समय दूसरी ओर देख रहे थे इसलिये उस बात को लक्ष्य नहीं कर सके।

थोड़ी देर तक योंही गप-शप होती रही। उसके बाद व्रजेन्द्र उठकर घर चले गए।

२-विमला का क्लेश

रामकुमार दूसरे ही दिन विश्वेश्वरनाथ के यह पहुँचे। कुछ दिनों से उनकी वहाँ बड़ी आवभगत होती थी। कारण किसी पर प्रकट नहीं किया गया था, पर रामकुमार को इस बात पर आश्चर्य नहीं था कि उनके आदर सत्कार में एकाएक ऐसी अधिकता क्यों हो गई है। विमला उनके सामने पहले भी निकलती थी, परंतु कुछ दिनों से वह उनके आनेपर अधिकतर उन्हीं के पास रहती थी। विमला अतीव सुन्दरी थी। परन्तु उसकी भव्य मुखश्री पर चिन्ता की छाया पड़ी हुई थी। यह बात रामकुमार की तीक्ष्ण दृष्टि से छिपी न रही। आज जब वे वहाँ पहुँचे तो उनका वैसा ही आदर हुआ जैसा कुछ दिनों से होता आता था। श्रीमान् विश्वे-

श्वरनाथ की धर्मपत्नी उन्हें जलपान कराने के बाद बहुत देर तक उनसे बातचीत करती रहीं। उसके पश्चात् वे विमला को उनके पास छोड़ कर चली गईं। विमला नीची दृष्टि किये बैठी हुई थी। रामकुमार उसकी चिन्ता-मिश्रित मुख-श्री को पवित्र दृष्टि से देख रहे थे। कुछ समय यों ही बीता। अन्त में रामकुमार ने निस्तब्धता भंग करते हुये कहा—

यदि बुरा न मानिये तो कुछ पूछूँ ?

विमला ने संकोच के साथ उत्तर दिया—पूछिये।

रामकुमार—आप उदास क्यों रहा करती हैं ?

विमला चौंक पड़ी और चुप रह गई। उसके अरुण कपोल अरुणतर हो गये। नेत्र में जल आ रहा था और वह उसे रोकने का प्रयत्न कर रही थी। वह नहीं समझ सकी कि इस प्रश्न का तात्पर्य क्या था। उसे एक अज्ञात आशंका हुई और कुछ भावी अनर्थ की कल्पना ने उसका हृदय कम्पित कर दिया। उसने बोलने का प्रयत्न किया पर बोल न सकी। रामकुमार उसकी अवस्था भलीभाँति देख रहे थे।

उन्होंने फिर कहा—यदि आपको बताने में कुछ कष्ट हो तो जाने दीजिये, न बताइये। परन्तु मैं आपकी सहायता ही करूँगा—कष्ट-निवारण का प्रयत्न ही करूँगा। मैं आपका सच्चा मित्र हूँ।

विमला फिर भी चुप ही रही; कुछ कह न सकी।

रामकुमार ने पुनः कहा—बहन, मुझे आपकी उदासी का कारण ज्ञात हो गया है। आप चाहे न बतावें।

कदाचित विमला को अपने माता-पिता के अभिप्राय का पता

था। वह यह भी जानती थी कि रामकुमार के समान चतुर युवक भी वह अभिप्राय समझे बिना न रहा होगा। उसे अपने सौन्दर्य का भी भान था—उसपर गर्व भी था। ऐसे सौन्दर्य का 'बहन' शब्द से तिरस्कार करने का प्रयास सुनकर विमला चकरा गई। उसने आश्चर्य से रामकुमार की ओर देखा और कुछ देर बाद कहा—

आपको क्या मालूम हो गया है?

रामकुमार—आपके हृदय की वेदना।

विमला—अच्छा यह तो हुआ। यह भी मालूम हुआ कि आप मित्र भाव से मेरी सहायता करना चाहते हैं। आपकी बड़ी कृपा है। मैं किस प्रकार धन्यवाद दूँ?

रामकुमार—आपके और उनके विवाह में बाधा क्या है?

विमला—और कुछ नहीं, वे धनहीन हैं। उनकी स्थिति ठीक नहीं।

रामकुमार—आप लोगों को धन की क्या कमी है जो धनी ढूँढ़ने की आवश्यकता पड़ गई?

विमला—माता-पिता की इच्छा है!

रामकुमार—और आप उस इच्छा पर अपने को बलिदान करने पर उद्यत थीं। आपने माता-पिता से स्पष्ट क्यों न कह दिया।

विमला—आप यह बात नहीं समझ सकेंगे। एक पुत्री पिता से ऐसी बातें नहीं कह सकती।

रामकुमार—वाह री लज्जा! तू चाहे जो अनर्थ करा दे। आपका मतलब है कि लज्जा कर्त्तव्य से भी बढ़कर है?

विमला—नहीं ऐसा तो नहीं है, कदाचित दोनों की रक्षा हो जाती।

रामकुमार—कैसे? प्राण देकर?

विमला की आँखों में आँसू भर आए। वह कुछ कह न सकी। कुछ देर चुप रहने के बाद उसने कहा—आप मेरे ऊपर बड़े दयालु हैं। परन्तु मेरे पिता जी बड़े हठी हैं; वे वह सम्बन्ध कभी स्वीकार न करेंगे। उन्हें ग़रीबों के प्रति तनिक भी सहानुभूति नहीं है।

रामकुमार—देखा जायगा। आप हताश क्यों होती हैं? जिस सम्बन्ध के लिये वे लालयित हैं वह जब नहीं होगा तब उनको राह पर लाने की कोई न कोई युक्ति निकल ही आवेगी।

विमला—देखिये जो कुछ हो।

राम कुमार—अच्छा अब मैं चलूँगा।

३—स्थिति-परिवर्तन

रामकुमार—क्यों जी ब्रजेन्द्र, श्रीयुत सत्येन्द्रप्रसन्न जी का वारिस कौन होगा। सुना था तुम उनके दूर के रिश्तेदार हो।

ब्रजेन्द्र—हाँ हूँ तो, परन्तु देखना, उनका कोई न कोई दूसरा वारिस निकल ही आवेगा! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ जो मैं उनका वारिस हो सकूँ।

रामकुमार—तुम बड़े आत्माभिमानी हो, तुम उनके जीवन-काल में उनसे अलग ही रहते थे। यदि उनको तुमने प्रसन्न कर लिया होता तो वे अपनी सारी जायदाद तुम्हारे ही नाम लिख जाते।

ब्रजेन्द्र—भाई, वे मुझसे बहुत विरक्त रहा करते थे। केवल उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनने के लिये उनकी चापलूसी करना तो मेरी शक्ति के बाहर था।

रामकुमार—अरे यार तुम भी बछिया के ताऊ ही हो। जो थोड़ी सी चापलूसी करने में इतनी जायदाद मिल जाय तो चापलूसी करने में क्या हानि है?

ब्रजेन्द्र—तुम ऐसा सोचते हो मगर मैं नहीं सोचता।

रामकुमार—नहीं सोचते तो जन्म भर नौकरी करो। पचास रुपया माहवार कमाओ और किसी तरह पेट भरो। तुम्हारे किये और होगा क्या?

ब्रजेन्द्र—अच्छा बाबा, तुम क्यों घबराते हो? तुम तो मौज में रहोगे; मैं भूखों मरूँगा तो मरूँगा।

इतने ही में स्वर्गीय सत्येन्द्रप्रसन्न जी के वकील वहाँ आ पहुँचे। दोनों ने उनका अभिवादन किया। रामकुमार ने एक अर्थ भरी दृष्टि से ब्रजेन्द्र की ओर देखा। वकील साहब पहले इधर-उधर की बातें करते रहे उसके बाद उन्होंने कहा—

श्रीमान् ब्रजेन्द्र प्रसन्न जी, मैं आपको इस बात की ख़बर देने आया हूँ कि श्रीमान् सत्येन्द्रप्रसन्न जी के आपके अतिरिक्त और कोई दूसरा उत्तराधिकारी नहीं है। अतएव आप उनके मकान में चलकर रहिये और उनकी सम्पत्ति के प्रबन्ध का भार ग्रहण कीजिये।

रामकुमार—आपकी आज्ञा मेरे मित्र को सर्वथा शिरोधार्य होगी। आशा है कि पहले ही के समान आप इनकी सहायता किया करेंगे।

वकील साहब—मैं तो सदैव ही सेवा के लिये उद्यत रहूँगा। आशा है आप स्वयं मुझे न भूल जावेंगे। अच्छा, इस समय मैं चलता हूँ, श्रीमान् के फिर दर्शन करूँगा और बहुत से आवश्यक विषयों पर सलाह करूँगा।

वकील साहब के जाते ही रामकुमार ने ब्रजेन्द्र का हाथ अपने हाथ में ले लिया और उन्हें सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये बधाई दी।

रामकुमार—भाई अब तो मुझ से बातचीत भी न करोगे।

ब्रजेन्द्र—क्यों?

रामकुमार ने हँसते हुये कहा—क्योंकि आप अब मुझसे कहीं अधिक धनी हो गये।

ब्रजेन्द्र ने गम्भीर होकर कहा—कैसी बातें करते हो भाई?

रामकमार—लो, तुम गम्भीर हो गये। मैं मज़ाक करता था। मगर यार इस मुफ़्त की मिली हुई सम्पति में मेरा आधा हिस्सा होगा; बोलो होगा न?

ब्रजेन्द्र—अरे बाबा सब की सब सम्पति तुम्हारी ही होगी।

राम कुमार—तब उठाओ काग़ज क़लम और अभी सब मेरे नाम लिख दो।

ब्रजेन्द्र काग़ज क़लम लेने भीतर चले गये। रामकुमार बैठे हँसते रहे। जब वे लौटे तब उन्होंने कहा—

भाई क्या सचमुच लिख ही दोगे। देखता हूँ तुम में तनिक भी धन-लिप्सा नहीं है।

ब्रजेन्द्र—धन-लिप्सा क्यों नहीं है मगर तुम्हारे नाम लिख दूँगा।

रामकुमार—अच्छा तो तुम पूरे बेवकूफ़ नहीं हो। मगर एक बात तुमने नहीं सोची। जो धन तुम्हें प्राप्त हुआ है उसके द्वारा तुम्हें बहुत सुन्दर सुन्दर लड़कियाँ प्राप्त होंगी। पहले विवाह कर लो तब सम्पत्ति मेरे नाम लिखना।

ब्रजेन्द्र—विवाह तो मुझे करना ही नहीं है।

रामकुमार—हाँ यह तो मैं भूल ही गया था। देखो, देखो, सोच समझ लो, परिस्थिति बड़ी भयंकर है। जिस पर तुम मरते थे उसका ब्याह मुझसे होने वाला है।

ब्रजेन्द्र ने मुस्कुराते हुये कहा—सचमुच! तब तो वह घर ही में रहेगी।

रामकुमार—तुम हँसते हो, मगर यह हँसी की बात नहीं है। उस दिन यह बात मैं तुमसे नहीं बता सका। मैं सच कहता हूँ।

ब्रजेन्द्र का मुख निष्प्रभ हो गया।

रामकुमार—अब बताओ मुझे छुरी लेकर मारने दौड़ोगे या मेरे नाम सम्पत्ति लिखोगे।

ब्रजेन्द्र ने एक ठण्ढी साँस लेकर कहा—नहीं भाई, यह तो घटना चक्र है, किसी भी प्रकार चल सकता है। मैं तुम से बैर क्यों बाँधूँ। मैं अब भी सम्पति तुम्हारे नाम लिख सकता हूँ।

रामकुमार ने ब्रजेन्द्र को गले लगाया। दोनों कुछ देर तक चुप रहे। इसके अनन्तर रामकुमार ने कहा—

भाई मैं लाचार हूँ। जब मेरा हृदय उसकी ओर आकर्षित हुआ तब मुझे यह नहीं मालूम था कि वह तुम्हारी प्रेमिका है। मैं अपने हृदय को बलिदान भी कर सकता था। परन्तु माता पिता ने

यह संबन्ध निश्चित कर रक्खा है, वे किसी प्रकार इसे तोड़ेंगे नहीं।

ब्रजेन्द्र की अवस्था बुरी हो गई। रामकुमार यह ताड़ गए। कुछ समय तक चुप बैठे रहने के पश्चात् रामकुमार घर चले गये।

४—नई भेंट

ब्रजेन्द्र जिसे अपना हृदय समर्पण कर चुके थे उसके मिलने की उन्हें कोई आशा न रही। वे अब उसकी बात भी सोचना नहीं चाहते थे। उससे उनके परम मित्र रामकुमार का ही विवाह होने वाला था। वे कैसे सोचते कि वह उनकी हो, या उनकी होने वाली थी या यह कि उससे उनका प्रेम था। अतएव वे विमला को अपने हृदय से सर्वथा हटा देना चाहते थे। पर क्या यह संभव था? क्या वह अपने हृत्पटल पर का वह चित्र मिटा सकते थे? उन्होंने मन में निश्चय किया कि वे उसे मिटावेंगे। जब संसार सच्चे प्रेम का आदर नहीं करता है, जब तुलसी दास जी की 'जिहि पर जिह कर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू' चौपाई में कोई तथ्य नहीं है तो वे उस प्रेम-सूत्र को छिन्न भिन्न करने की कोशिश क्यों न करें। उन्होंने सोचा कि उस चित्र के स्थान पर दूसरा चित्र आ जाय तो क्या हानि है? दूसरे चित्र से ही मन बहलेगा। शान्ति पाने का और कोई उपाय नहीं। अतएव वे हृदय-मन्दिर में दूसरी मूर्ति स्थापित करने को उद्यत हो गए। उस उत्तेजना की अवस्था में उनके मुँह से निकला—

"ऐसे सच्चे प्रेम से क्या लाभ कि जिससे जन्म भर हृदय जलता रहे।"

ब्रजेन्द्र के पास सम्पत्ति आही गई थी। उनके मित्रों की संख्या

बढ़ने लगी। शहर के एक अन्य रईस विश्वनाथराय के पुत्र का उनसे परिचय कराया गया। विश्वेश्वरनाथ और विश्वनाथराय दोनों ही सुधारक दल के रईस थे। विश्वेश्वरनाथ को सुधार का यह कटु फल मिल चुका था कि उनकी लड़की एक दरिद्र से प्रेम करने लगी थी। अतएव उनका सुधार-विषयक-उत्साह मंद पड़ गया था। परन्तु विश्वनाथराय के परिवार को अभी कोई ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। ये थे भी कुछ कट्टर सुधारक; कदाचित उन्हें ऐसे अनुभव विचलित भी न कर सकते। परन्तु अभी उनकी परीक्षा नहीं हुई थी। उनके एक वय-प्राप्त पुत्री थी। वह पर्दा नहीं करती थी; युवकों से स्वतंत्रता से मिलती थी। रामकुमार भी उनके यहाँ आया जाया करते थे।

जब ब्रजेन्द्र का परिचय विश्वनाथराय के पुत्र से हुआ तो उनका भी वहाँ जाना प्रारंभ हुआ। पहली बार जब वे गये तब राय जी की पुत्री घर पर नहीं थी। अपनी किसी सखी के यहाँ चली गई थी। दूसरी बार जब वे वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि एक अपूर्व सुन्दरी के साथ रामकुमार विराजमान हैं। दोनों ने इनका स्वागत किया।

रामकुमार ने उनकी ओर देखते हुये कहा—

मेरी परम मित्र सरोजनी देवी,

और सरोजनी देवी की ओर देखते हुये कहा—

मेरे परम मित्र ब्रजेन्द्र।

ब्रजेन्द्र लजीले स्वभाव के थे। वे लड़कियों से बोलने में हिचकते थे। एक ही लड़की को दरिद्रता की कृपा से उन्हें पढ़ाना पड़ा और उससे उन्हें प्रेम हो गया। सम्भवतः उसी लड़कीको उन्होंने

भर आँख देखा था। सरोजनी देवी को देख कर उनकी आँखें पहले झपीं तो अवश्य परन्तु उसका सौन्दर्य ऐसा चित्ताकर्षक था कि एक बार उनकी आँखें भी टक-टकी लगा कर उसकी ओर देखने लगीं। रामकुमार भाँप गया कि भोले भाले ब्रजेन्द्र को सरोजिनी के प्रेम में फँसने में देर नहीं लगेगी। जिसने सौन्दर्य बहुत बार नहीं देखा है उसका सौन्दर्य के जाल में फँसना बहुत सरल होता है। सरोजनी ने ब्रजेन्द्र को अपनी ओर लगातार घूरते देख कर आँखें नीची करलीं, तब कहीं उनको अपने अनुचित व्यवहार का भान हुआ। इतने ही में वार्तालाप आरभ करके रामकुमार ने दोनों के संकोच का निवारण किया।

रामकुमार—(ब्रजेन्द्र से) आज आपने यहाँ पधार कर इस परिवार को अनुग्रहीत किया।

ब्रजेन्द्र—मेरा सौभाग्य है कि भाई शिवनाथराय मुझे यहाँ लाए। मैं सरोजिनी देवी जी से परिचित होकर बहुत प्रसन्न हूँ।

रामकुमार—और कहिये, आप आनन्द से तो हैं। इधर कई दिनों से आप से भेट नहीं हुई।

ब्रजेन्द्र—आप की कृपा से सब आनन्द है। कई दिन से आप टेनिस खेलने भी नहीं आए।

रामकुमार—मैं लगातार कामों में फँसा रहा।

इतने में सरोजिनी के इंगित के अनुसार एक परिचारिका ने मेवा, मिठाई, फल, मुरब्बे आदि की रिकाबियाँ उनके सामने लाकर रक्खीं। सब ने जलपान किया।

+ + + +

इस प्रकार ब्रजेन्द्र का विश्वनाथराय के यहाँ प्रवेश हुआ।

वे अब उनके यहाँ बहुधा आया करते थे, कभी रामकुमार के साथ और कभी अकेले। ब्रजेन्द्र समझे थे कि मैं बल पूर्वक अपने हृदय में दूसरी मूर्ति स्थापित करके अपना मनोरंजन करूँगा, परन्तु. वह उन्हें करना नहीं पड़ा। उनका हृदय सरोजिनी की ओर मंत्रमुग्ध के समान आप ही आप जाने लगा। हृदय की ऐसी गति देख कर उन्हें उससे घृणा होने लगी। वे अभी तक अपने को हृदय का स्वामी समझते थे पर अब उन्हें ज्ञात हुआ कि हृदय ही उनका स्वामी है। उन्हें स्मरण हुआ कि विमला से अलग किये जाने पर उन्होंने कैसी प्रतिज्ञा की थी और फिर उस प्रतिज्ञा को वे रामकुमार से कह भी चुके थे। उन्होंने सोचा कि ऐसी अवस्था में हृदय का संयम करना चाहिये। अतएव उन्होंने दूसरी मूर्ति से मनोरंजन के विचार को अलग किया और अपने हृदय की गति रोकने का प्रयत्न करने लगे। इसका फल उलटा हुआ। जितना ही वे हृदय के रोकने का प्रयत्न करते थे उतना ही वह सरोजिनी की ओर दौड़ता था। अब वे समझे कि विमला से उन्हें प्रेम नहीं हुआ था, केवल उसके रूप का मोह था। उस समय तक उन्हें सौन्दर्यों की तुलना का अवसर नहीं मिला था। यदि वे पहले सरोजिनी को देख चुके होते तो विमला पर मुग्ध ही न होते।

सरोजिनी की मन्द मुस्कान उन्हें हर समय याद रहने लगी। सरोजिनी भी उनसे बड़े स्नेह से मिलती थी। परन्तु वह तो रामकुमार से भी उसी आवभगत से मिलती थी। उन्हे जान पड़ने लगा कि रामकुमार उनके पीछे पड़ा है। वह विमला को उनसे छीन ले गया, अब क्या सरोजिनी को भी छीन लेगा! उन्हे रामकुमार से इर्षा होने लगी।

चार महीने यों ही बीत गए। वे प्रति दिन सरोजिनी के यहाँ

उपस्थित रहने लगे। एक दिन उनसे और सरोजिनी से एकान्त में इस प्रकार बात चीत हुई।

सरोजिनी—अधिक परिचय के कारण मैं पहले के समान आप का ध्यान नहीं रखती, आप को कोई कष्ट तो नहीं होता।

व्रजेन्द्र—आप को मेरा बहुत ध्यान रहता है, कैसा कष्ट! आप की बड़ी कृपा है।

सरोजिनी—नहीं, आप संकोच करते हैं।

व्रजेन्द्र—नहीं मैं सच कहता हूँ, आपसे कुछ संकोच नहीं करता।

सरोजिनी ने मन्दगति से मुख पर से अपने केश हटाते हुये कहा—तब तो मुझपर आपकी बड़ी कृपा है, चलिये फुलवारी में घूम आवें।

वसन्त ऋतु थी। फुलवारी में शीतल मन्द सुगन्ध पवन बह रहा था। चारों ओर फूल खिले हुये थे। सरोजिनी और व्रजेन्द्र घूम रहे थे। सहसा एक ओर से कोयल कूक उठी। पुष्परजपूरित वायु का एक झोंका आया और सरोजिनी के वक्षस्थल से अंचल हट गया। व्रजेन्द्र मुग्ध दृष्टि से सरोजिनी की ओर देखते रह गये। सरोजिनी मुस्कुराई परन्तु बोली नहीं। व्रजेन्द्र को नशा सा चढ़ गया। वे चुपचाप उसके साथ घूमते रहे। सहसा सरोजिनी ने उनकी ओर घूम कर कहा—आपने कभी किसी से प्रेम किया है?

व्रजेन्द्र का हृदय उल्लसित हो उठा। प्रश्न में उनके लिये बड़ी आशा गर्भित थी। पर उन्होंने देखा कि यदि मैं सच्चा उत्तर देता हूँ तो उस आशा पर पानी फिरा जाता है। अतएव वे झूठ बोलने पर विवश हुये। उनके मुँह से आप ही आप निकल गया—'नहीं'।

सरोजिनी हँस पड़ी। उसने एक फूल तोड़ कर उन्हें भेंट किया। उन्होंने अनेक धन्यवाद देकर उसे ग्रहण किया।

इसी प्रकार कई मास बीत गए।

५—जटिल समस्या

एक दिन रामकुमार ने आकर कहा—

भई ब्रजेन्द्र, जान पड़ता है तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी। तुम्हारी स्थिति-परिवर्तन के कारण श्रीमान् विश्वेश्वरनाथ जी की ऐसी इच्छा जान पड़ती है कि वे मेरे साथ विमला का विवाह न करके तुम्हारे ही साथ करें। तुम जानते ही हो, वे धन के बड़े लोभी हैं और धन तुम्हारे पास अधिक है। उनके इस झुकाव की चर्चा मैंने अपने पिता जी से की; उन्होंने कहा कि यदि उनकी ऐसी इच्छा है तो पूरी होनी चाहिये। मैं उसमें बाधक नहीं बनूँगा। तुम उनके यहां न जाया करो।

ब्रजेन्द्र चुप रहे। रामकुमार ने फिर कहना आरंभ किया—यदि अब तुम्हारी इच्छा विमला से विवाह करने की हो तो मैं किसी के द्वारा कहला दूँ। वे स्वयं तुम्हारे पास आकर तुमसे प्रस्ताव करने में संकोच करते हैं क्योंकि एक बार तुम्हारा अपमान कर चुके हैं। अतएव तुम्हारी ओर से ही उनके पास स्वीकृति-सूचना पहुँचनी चाहिये।

ब्रजेन्द्र कुछ सोचते रहे, फिर बोले—

अब मेरा विमला से संबंध करना उचित न होगा। आप उसके यहां जाते आते रहे हैं, उसका चित्त आपकी ओर आकर्षित होगया होगा।

रामकुमार—नहीं, उसका चित्त अब भी आप ही की ओर है। वह मुझसे बातचीत करने को विवश थी।

ब्रजेन्द्र—पर आपसे बातचीत तो करती ही थी।

रामकुमार—तो क्या हुआ?

ब्रजेन्द्र—इसमें कोई हानि ही नहीं?

रामकुमार—तुम बड़े संकुचित विचार के मालूम होते हो। वह तुमसे पढ़ चुकी थी तो भी मैं उससे संबंध स्वीकार करने को तय्यार था, पर वह मुझसे बातचीत कर चुकी है इससे तुम उसका त्याग करोगे?

ब्रजेन्द्र—अपनी अपनी इच्छा ही तो है।

रामकुमार—अच्छा जाने दो। मैं तुम्हारे विचार विश्वेश्वर-नाथ जी तक पहुँचवा दूँगा। परन्तु यदि तुम मेरे ऊपर कृपा करके विमला से विवाह करलो तो अच्छा है नहीं तो मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह करना ही पड़ेगा। विश्वेश्वरनाथ जी बड़े चालाक हैं, उन्होंने अभी खुल कर कुछ कहा नहीं—अभी मुझसे विमला का संबंध तोड़ा नहीं।

ब्रजेन्द्र—क्यों, विमला से विवाह क्यों नहीं करना चाहते?

रामकुमार—ऐसे ही, पूछ कर क्या करोगे?

ब्रजेन्द्र—बतलाइये तो—

रामकुमार—जब तुम मुझसे कुछ नहीं छिपाते तो मैं क्यों छिपाने लगा—बात यह है कि मैं सरोजिनी से प्रेम करने लग गया हूँ।

ब्रजेन्द्र का मुँह पीला होगया। वे बड़ी कठिनता से बोले—

आपने तो कहा था कि आप का हृदय विमला के प्रति आकर्षित होगया था।

रामकुमार—हां, ऐसा हुआ था पर जब से सरोजिनी को देखा उस पर मन आगया। जब विमला पर रीझा था तब सरोजिनी देवी दृष्टिगत नहीं हुई थीं।

ब्रजेन्द्र—अच्छा मन है आपका!

रामकुमार—वह तुम्हारे मन के समान एक ही ओर जाने वाला नहीं है।

ब्रजेन्द्र ने देखा कि रामकुमार उनसे सरोजिनी को भी छीनना चाहता है। उन्हें उनके ऊपर अपार क्रोध हुआ। पर उसे दबा कर उन्होंने कहा—

मैं अब विमला से विवाह नहीं कर सकता।

रामकुमार—अच्छा जाने दो, विमला से विवाह न करो, पर विवाह तो करोगे?

ब्रजेन्द्र—कह नहीं सकता

रामकुमार—नहीं भाई, तुम्हें विवाह न करने की अपनी प्रतिज्ञा तो मेरे कहने से तोड़नी ही पड़ेगी।

ब्रजेन्द्र मुस्कुराये और बोले—

किससे विवाह करूँ?

रामकुमार—जिसके साथ मैं दुर्भाग्य से नहीं कर सकता, अर्थात सरोजिनी के साथ।

ब्रजेन्द्र—परन्तु वह भी तो आपसे ही प्रेम करती है।

रामकुमार—नहीं तो, वह तो मुझसे प्रेम नहीं करती, केवल मैं ही उससे प्रेम करता हूँ।

ब्रजेन्द्र—तब भी आप उससे विवाह करने को तय्यार थे ?

रामकुमार—हानि क्या थी ? उसके प्रेम न करने से मेरे आनन्द में कौन सी बाधा आती ?

ब्रजेन्द्र—भाई, दोनों ओर से प्रेम होना चाहिये।

रामकुमार—सो तो मेरे भाग्य में ही नहीं है। विमला भी मुझसे प्रेम नहीं करतीं।

ब्रजेन्द्र—अच्छा तो सरोजिनी देवी किस से प्रेम करती हैं ?

रामकुमार—वे भी तुम्हीं से प्रेम करती हैं।

ब्रजेन्द्र—आप को कैसे मालूम ?

रामकुमार—यह भी कहीं छिपा रहता है कि कौन किससे प्रेम करता है ? इसके अतिरिक्त उन्होंने मुझसे इंगित द्वारा कहा भी था कि मैं विश्वनाथराय जी से आप दोनों के विवाह का प्रस्ताव करूँ।

ब्रजेन्द्र—सच !

रामकुमार—तुम जानते ही हो कि झूठ बोलने की मेरी आदत नहीं है।

ब्रजेन्द्र—फिर आप ने प्रस्ताव किया था ?

रामकुमार—नहीं।

ब्रजेन्द्र—क्यों ?

रामकुमार—क्योंकि मैं स्वयं सरोजिनी के साथ विवाह करना चाहता था। समझता था कि विमला को तुम्हारे गले मढ़ दूँगा।

जब रामकुमार ने यह कहा था कि सरोजिनी ब्रजेन्द्र से प्रेम करती है तब उनका मुख प्रसन्न हो उठा था। अब वह क्रोध से लाल हो उठा।

ब्रजेन्द्र—तुम बड़े स्वार्थी हो।

रामकुमार—यह तो ठीक है परन्तु अब यह प्रतिज्ञा करो कि सरोजिनी से व्याह करोगे।

ब्रजेन्द्र—अपनी पहले की प्रतिज्ञा कैसे तोड़ूँ ?

रामकुमार—यही तो यार बुरा मालूम होता है। परी ऐसी लड़की मिलती है और तुम पहले की प्रतिज्ञा लिए बैठे रहोगे। धन्य है तुम्हारी बुद्धि को। मैं होता तो ऐसी सैकड़ों प्रतिज्ञाएँ तोड़ डालता। बोलो, कहो कि सरोजिनी से व्याह करोगे।

ब्रजेन्द्र मुस्कुरा कर बोले—अच्छा विवाह करूँगा और सरोजिनी से, अब तो प्रसन्न हो।

रामकुमार—हाँ, हाँ, अब प्रसन्न हूँ, मिठाई खिलाऊँगा।

\+ \+ \+ \+

योंही कुछ समय बीत गया। ब्रजेन्द्र का सरोजिनी के यहाँ आना जाना जारी रहा। वे सरोजिनी की ओर अधिकाधिक खिँचे जा रहे थे। उन्हें रामकुमार की बातों से यह आशा होगई थी कि उनका विवाह सरोजिनी के साथ हो जायगा। सरोजिनी भी उन्हें अपनी ओर विशेष आकर्षित जान पड़ती थी।

एक दिन जब वे सरोजिनी के यहाँ पहुँचे तब उन्होंने देखा कि उसके समीप एक सुन्दरी विराजमान है। मुख कुछ परिचित सा जान पड़ता था। कुछ देर बाद उन्होंने पहचाना कि वह विमला

थी। बिमला को उन्होंने मुग्धावस्था के आरम्भ में देखा था। अब वह युवती थी। इस अवस्था को प्राप्त होने पर ही बाला की सुन्दरता निखरती है। सरोजिनी पहले की विमला से सुन्दर अवश्य थी पर इस विमला से कम सुन्दर थी, यह उन्हें आज ज्ञात हुआ। उन्हें जान पड़ने लगा कि सरोजिनी का सौन्दर्य विमला के सौन्दर्य के सम्मुख अवस्तु है। सरोजिनी ने उन्हें विमला की ओर एक टक देखते देख कर कहा—"आप मेरी सखी विमला हैं, श्रीमान् विश्वेश्वरनाथ जी की योग्य पुत्री हैं, कदाचित इन्हें आपने पहले ही पहल देखा है, पहचानने की चेष्टा व्यर्थ है! इस बात पर ब्रजेन्द्र और विमला के मुखों पर मुस्कुराहट आ गई, परन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। कुछ देर बाद सरोजिनी किसी काम से चली गई। विमला ने निस्तब्धता भंग की—

आप मुझे बिलकुल भूल गए

ब्रजेन्द्र ने सिर नीचा कर लिया। विमला ने फिर कहा—"यह मेरा दुर्भाग्य है।" इतने में सरोजिनी आगई। बहुत देर योंही बात-चीत होती रही।

\+ \+ \+ \+

ब्रजेन्द्र ने इसी प्रकार विमला को सरोजिनी के यहाँ कई बार देखा। उनका विमला के प्रति पूर्व प्रेम पुनः जागृत हो उठा। वे दिन रात उसीका ध्यान करने लगे। वे सोचने लगे कि उन्होंने बड़ी मूर्खता की जो सरोजिनी को कुछ समय के लिये हृदय में स्थान दिया। उन्हें विमला की स्मृति में ही जीवन बिता देना चाहिये था। दो माह वे विमला से मिलते रहे। उनके हृदय में विमला का प्रेम पुनः व्याप्त होगया। सरोजिनी को देखने की भी

इच्छा नहीं होती थी। उन्होंने सोचा क्या ही अच्छा होता यदि मैं उस दिन रामकुमार की बात मान कर विमला से विवाह करने को राज़ी हो जाता। अवसर हाथ से निकल गया।

इसी बीच में विमला ने सरोजिनी के यहाँ आना छोड़ दिया। एक दिन उनसे सरोजिनी से यों बात-चीत हुई—

व्रजेन्द्र—अब विमला यहाँ क्यों नहीं आती ?

सरोजिनी—न जाने क्यों, पर यह निश्चित है कि वे अब यहां नहीं आवेंगी। क्या आपने उनके साथ कोई अशिष्ट व्यवहार किया है ?

व्रजेन्द्र—नहीं, ऐसा तो नहीं हुआ।

सरोजिनी—जाने दीजिये फिर, नहीं आवेंगी तो न आवें।

व्रजेन्द्र उदास हो गए। सरोजिनी ने व्यंग्यपूर्वक कहा—

उनके घर चले जाया कीजिये।

व्रजेन्द्र को यह व्यङ्ग असह्य जान पड़ा। वे चुपचाप घर चले आए।

व्रजेन्द्र को अब विमला की विरह-वेदना अधिक व्यस्त करने लगी। उन्हें उसके देखे बिना चैन नहीं पड़ती थी। वे दुबले होने लगे। लगभग तीन माह में उनका शरीर कुछ कृश होगया। एक दिन वे उदास बैठे थे कि रामकुमार हँसते हुए पहुँच गए।

रामकुमार—कहो भाई व्रजेन्द्र, मामला क्या है ? दुबले होते जाते हो।

व्रजेन्द्र—कुछ नहीं, तबियत अच्छी नहीं रहती है।

रामकुमार—क्या बीमारी है ?

ब्रजेन्द्र चुप रहे ; क्या बीमारी बताते ।

रामकुमार ने पास पहुँच कर नाड़ी-परीक्षा की और कहा—भाई, यह तो विरह-वेदना है । इतना घबराने की क्या आवश्यकता है । सरोजिनी से आपका विवाह तो निश्चित हो ही गया है । कुछ दिनों की देरी है । ब्रजेन्द्र और भी अन्यमनस्क होगए । रामकुमार ने कहा—क्या है तुम्हारे मन में, बताते क्यों नहीं ?

ब्रजेन्द्र—कुछ नहीं ।

रामकुमार—नहीं, मैं बिना पूछे न मानूँगा !

ब्रजेन्द्र ने अपने मन की बात कहने का उपयुक्त अवसर समझा । उन्होंने कहा—

अगर बनाओ न तो बताऊँ !

रामकुमार हँस पड़े । बोले—

बनाने से तुम इतना डरते हो । मैं नहीं बनाऊँगा निश्शंक होकर कहो ।

ब्रजेन्द्र—भाई, मैं समझता हूँ मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर अच्छा नहीं किया, मुझे विमला से ही विवाह करना चाहिये ।

रामकुमार गंभीर हो गये । कुछ देर तक चुप रहे, फिर उत्तर दिया—

अब यह हो नहीं सकता । मेरे साथ विमला का और तुम्हारे साथ सरोजिनी का विवाह निश्चित हो चुका है । मैंने जब तुमसे कहा था तब तुमने नाहीं करदी । अब जो कुछ होगया सो हो गया ।

रामकुमार कुछ देर चुप बैठे रहे । फिर घर चले गए । ब्रजेन्द्र

उदास होकर लेट गए। उनके हृदय में कठिन पीड़ा होने लगी। उस दिन सरोजिनी के व्यङ्ग से उन्हें कुछ कुछ उसके स्वभाव का परिचय मिल चुका था। वे उसके साथ कैसे जीवन-निर्वाह करेंगे, इसी की उन्हें चिन्ता थी। परन्तु अब नाहीं करने से सरोजिनी और उसके परिवार वालों का अपमान था। वे लाचार थे, अपने भाग्य को कोसने के सिवा और कुछ न कर सकते थे।

६—विवाह

दोनों विवाह होगये, परन्तु वे बिलकुल पुरानी विधि से किये गए थे, और दोनों श्रीमान् विश्वनाथराय के घर से। बजेन्द्र को आश्चर्य था कि विवाह कार्य के समय दोनों परिवारों का सब सुधार हवा होगया था। दुलहिनों ने लम्बे लम्बे घूँघट काढ़े थे—जिससे वरों के लिये उन्हें किसी भी प्रकार देखना असम्भव था। ब्रजेन्द्र को विवाह के कारण बड़ी वेदना हो रही थी। वे बधू को घर तो ले आए पर दो दिन तक उससे बोले तक नहीं। वह भी लगातार घूँघट काढ़े हुए चुप रही। ब्रजेन्द्र ने समझा कि मैं ही सरोजिनी से रुष्ट नहीं हूँ, वह भी मुझसे विरक्त है। वे इसी सोच मे पड़े थे कि अपनी मूर्खता से वे अपना जीवन खो बैठे। इतने में रामकुमार आ पहुँचे। उन्होंने चेहरा भयंकर बनाते हुये कहा—

यार बड़ा गजब हुआ—बिदाई के समय बहुएँ बदल गईं हैं। घूँघटों के कारण लोगों ने जल्दी में तुम्हारी पालकी पर विमला को और मेरी पालकी पर सरोजिनी को बैठा दिया।

ब्रजेन्द्र चुप रहे।

रामकुमार ने विमला को पुकारा—वह मुँह खोले हुये बाहर

निकल आई। ब्रजेन्द्र एक टक उसकी ओर देखने लगे। रामकुमार ने बड़ी गंभीरता से कहा—चलो तुम हमारे घर, धोखे से यहाँ भेजदी गई हो।

विमला हँस पड़ी, बोली—अब इनके पास आगई हूँ, तो इन्हीं के पास रहूँगी, तुम जाओ।

रामकुमार ने बनावटी क्रोध करके कहा—

इतनी हिम्मत, मुझसे विवाह हुआ, और इनके पास रहोगी?

ब्रजेन्द्र ने घबरा कर कहा—भाई, सच बताओ मामला क्या है?

रामकुमार और विमला खिलखिला कर हँस पड़े।

रामकुमार ने कहा—

"मूर्खराज, तुमने अपनी प्रतिज्ञा के बल पर विमला से विवाह नहीं किया है, वरन् यह विमला की दृढ़ प्रतिज्ञा थी कि वह तुम्हारे ऐसे भोंदू के गले मढ़ी गई, कोई संशय मत करो तुम्हारे साथ विमला का ही विवाह हुआ है, परन्तु तुम परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए।" ब्रजेन्द्र का मुख प्रफुल्लित हो गया। वे रामकुमार से गले मिलने लगे, उन्होंने उन्हें अलग करते हुये कहा—

पहले मिठाई खिलाओ, झूठ-मूठ गले नहीं मिलने दूँगा।

भ्रम

वंशीधर बड़े आलसी थे। उन्हें कुछ कुछ कविता करने की धुन भी थी। आलस और कविता की धुन, बस दरिद्रता के लिये और क्या चाहिये। उनके पिता के पास न कुछ भूमि थी, न कोई बड़ा व्यापार। अतएव उन्हें पैतृक सम्पति भी प्राप्त नहीं थी।

आनन्द सिंह उनके सहपाठी थे। उन्होंने बाल्यावस्था से ही उन्हें समझाना आरंभ किया था और अब तक समझाते आते थे। पर फल कुछ भी न हुआ। उन्होंने समझ लिया कि ये समझाने से न सुधरेंगे। अतएव उन्होंने उस विषय में कुछ कहना सुनना छोड़ दिया।

वंशीधर कविता की धुन में कुछ पढ़ लिख नहीं सके थे। कोई इज्जत की नौकरी उन्हें मिल न सकती थी। साधारण क्लर्क होना नहीं चाहते थे। क्लर्की उनसे हो भी न सकती थी। बाप जो कुछ जमा करके छोड़ गये थे उसी को खाते पीते रहे। वह भी किफ़ायत से नहीं। कवि के किये किफ़ायत नहीं हो सकती।

इसका फल स्पष्ट ही था। वे बहुत जल्द तंग हालत में हो गये। अब वे आनन्द सिंह के पास अधिक आने जाने लगे। कवि जिस शीघ्रता और सरलता से सहायता दे सकता है, उसी शीघ्रता और सरलता से सहायता पाने की आशा भी करता है। वे मन ही मन चाहने लगे कि आनन्द सिंह उन्हें आर्थिक सहायता दें—उनके लिए एक प्रेस खोल दें। उसमें उनकी कृतियां छपा करें, और उसी के पुरस्कार स्वरूप उन्हें कुछ द्रव्य मिल जाया करे। आनन्द-

सिंह का भी लाभ होगा और उनका भी । प्रेस से उन्हें खासी आमदनी हो जाया करेगी ।

कवि संकोची भी बहुत होता है । वे आनन्दसिंह के यहाँ साल भर तक बराबर जाते रहे पर अपने मन का अभिप्राय उनसे कह न सके । आनन्द सिंह समझ तो गए कि वे कुछ सहायता चाहते हैं पर स्वयं कुछ न बोले ।

यह संकोच कब तक रहता । जब भूखों मरने की नौबत आ गई तब वह टूट गया । अन्त में एक दिन वंशीधर ने आनन्दसिंह के यहाँ जाकर उन पर अपने मन की बात प्रकट की ।

वंशीधर—भाई, आनन्दसिंह, मैं आप से एक गंभीर विषय पर बात करना चाहता हूँ ।

आनन्दसिंह—कहिये ।

वंशीधर—यदि आप एक काम करें तो आप का भी लाभ हो और हमारा भी ।

आनन्दसिंह—कौन सा काम ?

वंशीधर—आप एक प्रेस खोल दीजिये ।

आनन्दसिंह—प्रेस खोल कर क्या होगा ?

वंशीधर—उससे आप को आर्थिक लाभ होगा ।

आनन्दसिंह—कैसे होगा ? प्रेस तो बहुत हैं !

वंशीधर—यह आप क्या कहते हैं ? इतने बहुत नहीं हैं कि लाभ हो न सके ।

आनन्दसिंह—मुझे कदाचित् लाभ हो भी जाय, पर आप को क्या लाभ होगा ?

वंशीधर—मैं किताबें लिखूँगा, आप छापियेगा और बेचियेगा। मुझे भी कुछ दे दीजियेगा।

आनन्दसिंह—कौन जानता है कि आप की किताबें बिकेंगी ही। न बिकीं तो?

वंशीधर—सब की किताबें बिकती हैं, मेरी ही न बिकेंगी?

आनन्दसिंह—सब को लोग जानते हैं, आप को कौन जानता है?

वंशीधर—जिनको लोग जानते हैं, मैं उनसे अच्छा लिखता हूँ।

आनन्दसिंह—हो सकता है कि आप संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हों, पर लोग वैसा आप को न माने और आपकी किताबें न बिकें तो मैं क्या करूँगा?

वंशीधर—आप टालना चाहते हैं!

आनन्दसिंह—शायद आप ठीक ही सोचते हैं।

वंशीधर—बस, मित्रता देख ली। बड़ी सहानुभूति प्रकट किया करते थे। जब सहायता करने का समय आया तब मुँह मोड़ लिया।

आनन्दसिंह—जैसा समझिये—मुझे काम से जाना है—अधिक समय नहीं है।

२.

वंशीधर आनन्दसिंह के यहाँ से बहुत उदास होकर लौटे। उन्हें आनन्दसिंह से ऐसी आशा नहीं थी। आनन्दसिंह का स्वभाव अच्छा था। वे दीनों की सहायता किया करते थे। सैकड़ों दुखियों का दुःख उनके द्वारा दूर होता था। उनके लिये अपने मित्र को सहायता देनी कोई बड़ी बात नहीं थी। पर उस दिन उन्हें न जाने क्या होगया जो वे ऐसा व्यवहार कर बैठे। वंशीधर

उनके यहाँ बार बार गए। कवि आत्म-सम्मान का ध्यान आवश्यकता से अधिक रखते हैं। पर वंशीधर को दुतकारे जाने पर भी आनन्दसिंह के घर जाने में अब लज्जा नहीं आती थी। उदर की ज्वाला आत्म-सम्मान को भी जला डालती है।

जितना ही अधिक वंशीधर आनन्दसिंह के यहाँ जाते थे उतने ही वे उनसे विरक्त होते जाते थे। यहां तक कि वे अब उनको जलपान के लिये भी नहीं पूछते थे और न दो-चार मिनट से अधिक समय तक उनसे बातचीत करते थे। आखिर वंशीधर से और अधिक न सहा गया। एक दिन उन्होंने पैर से दबे हुये सर्प की तरह फन उठाया, आनन्दसिंह को बहुत फटकार बताई और उनके घर को सदा के लिये छोड़ कर चले आए।

३.

आघात मानसिक परिवर्तन पैदा कर देते हैं। वंशीधर घर आकर बहुत झुँझलाए। उन्होंने एक ग़रीब पड़ोसी से कुछ रुपये उधार लिए और एक पान की दूकान कर ली। वे पान बेचते और पान खाने के लिये दूकान पर इकट्ठा होने वाले आदमियों को अपनी कविता सुनाते। कविता सुनने के लोभ से लोग उन्हीं की दूकान पर पान खाने आने लगे। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गए। उनके पास कुछ रुपये जमा होगए। उनसे उन्होंने तम्बाकू की दूकान की। तम्बाकू की दूकान से उन्हें अधिक लाभ होने लगा।

किसी के दिन एक से नहीं रहते। वंशीधर कुछ दिनों में मज़े में होगये। धीरे धीरे उनकी पूँजी बढ़ी और उन्होंने प्रेस ख़रीद लिया। वे अब किताबें लिखने लगे। उनका पुराना स्वप्न अब सत्य हो गया। आज उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने आनन्दसिंह से प्रेस खोलने की प्रार्थना करके अपने को कितना नीचे गिरा दिया था।

वंशीधर का कारोबार और भी बढ़ने लगा। वे अपनी सफ़लता पर फूले न समाते थे।

इसी बीच में एक दिन उनसे और आनन्दसिंह से अचानक भेंट होगई। आनन्दसिंह ने उन्हें देख कर मुस्कुरा दिया और हाथ मिलाने के लिये उनकी ओर अपना हाथ बढ़ाया। पर वंशीधर ने अपना हाथ आगे नहीं बढ़ाया। उनके वदन पर घृणा के भाव आ गये। उन्होंने कह ही डाला—

तुम हाथ मिलाने योग्य मनुष्य नहीं हो।

४

किसी को अपनी सफलता पर अभिमान नहीं करना चाहिये। आज जो बात है, सम्भव है वह कल न रहे। परन्तु वंशीधर इस बात को भूल गये। वे उन्मत्त से हो गए थे। वे जिससे बातें करते, अपनी प्रशंसा का पुल बाँध देते। धनी की हाँ में हाँ सब कोई मिलाते हैं। उनकी बात का कोई विरोध नहीं करता था।

मालूम होता है उनके अभिमान को दैव नहीं सह सका। एक दिन अचानक उनके कार्यालय में भीषण आग लग गई। उनका सब कुछ जल कर स्वाहा हो गया। आग लगने का समाचार आनन्दसिंह को मिला था। वे आग बुझाने आए थे। पर आग किसी के बुझाए बुझ न सकी थी। प्रचण्ड वायु ने उसकी सहायता की थी। जिस समय आनन्दसिंह घर लौट रहे थे उस समय वंशीधर बहुत उदास थे। उनका सारा घमंड चूर-सा हो गया था। उनको देख कर आनन्दसिंह जाते जाते मुस्कुरा उठे थे। यह मुस्कुराहट वंशीधर के हृदय में तीर बन कर लगी थी। वे इस समय यही सोच रहे हैं कि क्या आनन्दसिंह इतना नीच हो गया है। मेरा सर्वस्व स्वाहा देख कर वह मुस्कुरा उठा।

इसी समय आनन्दसिंह फिर आ गये। उन्होंने कहा ...

वंशीधर क्या सोच रहे हो ?

वंशीधर—यही कि तुम्हारा कितना घोर अधःपतन हुआ है।

आनन्दसिंह—अधःपतित तो मैं सदा से ही था। यह बताओ कि अब आगे क्या विचार है ?

वंशीधर—तुम्हारे यहाँ चपरासगीरी नहीं मिलेगी क्या ?

आनन्दसिंह ने विचलित होकर कहा—

"आप कैसी बातें करते हैं। लीजिये यह ८ हज़ार रूपयों का चेक है। आप फिर से प्रेस खोलिये।" वंशीधर कुछ देर तक सोचते रहे, फिर उठ कर आनन्दसिंह के गले से लिपट गये। उन्होंने सजल नेत्र होकर कहा—

भय्या क्षमा करना, मुझे भ्रम हो गया था। अब आपकी हितैषिता समझ में आई है।

आनन्दसिंह—भाई मुझे ताना तो नहीं दे रहे हो।

वंशीधर—सच बताओ, यही बात है न कि पहले मैं अकर्मण्य था पर अब दैवी घटना से मेरा सर्वनाश हुआ है।

आनन्दसिंह—भाई मेरा तो यही भाव था। यदि इसमें कोई भूल हो तो क्षमा करना।

वंशीधर—नहीं भाई, अपने नितान्त कुत्सित विचारों के लिये मैं बहुत लज्जित हूँ। मुझे हृदय से क्षमा करो।

आनन्दसिंह—यदि क्षमा चाहते हो तो यह चेक ग्रहण करो।

वंशीधर—भाई, तब तो आप ने उचित किया था पर अब भूल कर रहे हैं। मै फिर पान की दुकान करूँगा।

आनन्दसिंह ने बहुत अनुरोध किया पर वंशीधर ने चेक लौटा ही दिया।

सती का सौभाग्य

आँखें चार हुईं, मन उलझ गये! दोनों ही वय-प्राप्त थे—सुन्दर थे! दोनों की आकृति से भव्यता, सुशीलता, सरलता टपकी पड़ती थीं! दोनों पहनावे से, चाल-ढाल से सम्भ्रान्त घराने के जान पड़ते थे। स्पष्ट था कि दोनों एक-दूसरे के योग्य थे!

यह सब कुछ था, पर हो क्या सकता था? सम्बन्ध निश्चित कर लेते? वे, जो एक दूसरे की ओर भली प्रकार देख भी न सकते थे, ऐसा करते? वे हृदयगत संस्कारों के विरोध में, प्रथा के प्रतिकूल, आपस में बातें करते? वे लज्जाभिभूत मुँह खोल सकते? कहीं हिन्दुओं में भी ऐसा हुआ है? छिः यह तो बड़ी घृणित बात थी!

दोनों का मन कह रहा था—

देखा है इस जग में जिसने—
मोहन-रूप बिना बाधा,
वही समझ सकता है क्यों कर—
कुल-कलङ्किनी है राधा!!

पर उनका मन चाहे जो कहे, संसार के कुछ और कह उठने का भय था! तो हुआ क्या? दोनों की दृष्टियाँ एक-दूसरे से फिर गईं। मुख विमुख हो गये! जिह्वाओं में ताला लग गया! नासि-

काएं एक-एक गहरी साँस खींच कर अपनी-अपनी ओर पीछे को हट गईं। चितवनें अपाङ्ग से देखते-देखते लज्जित होकर सहम गईं—अन्तिम बार देख भी न पाईं !!

दोन ने अपनी-अपनी राह ली। परस्पर परिचय भी न प्राप्त हो पाया। उस समय तो दोनों ही एक-दूसरे के लिये संसार के महामानव-सागर में विलीन से हो गये !

परन्तु तारा अपने घर के समीप ही थी। निहालसिंह ने उसे जिस घर में प्रवेश करते देखा, उसका पता लगाया और उस मोहनी सरल मूर्ति के बारे में सब कुछ जान लिया; परन्तु तारा के लिये वह सचमुच खो गया। वह बेचारी क्या नगर भर में निहालसिंह का पता लगाती फिरती; और नगर भर ही में क्यों; क्या जाने वह उसी नगर का था अथवा कहीं दूसरी जगह से आया हुआ, उस नगर का केवल कुछ दिन का मिहमान था !

हाय री, निर्बला अवला जाति ! कोई हृदय ले जाय, प्राण ही क्यों न ले जाय; पर उसे यह पूछने का—जानने का—भी अधिकार नहीं कि ले जाने वाला कौन है—कहाँ रहता है !

विचित्रता यह है कि जितने अधिक दिनों की बात थी, स्मृति के पट पर वह उतनी ही गहरी होगई थी। वाह रे स्वप्न ! देखने के सालों बाद और भी स्पष्ट—और भी सच्चा—मालूम हो रहा है।

न जाने वह कौन था ? बिजली सा चमक गया—लहर सा अपनी उठान दिखा कर अन्तर्द्धान हो गया; इन्द्र-धनुष के समान कुछ समय तक अपनी छटा दिखा कर सूर्य के प्रकाश में विलीन हो गया; पर वह अब और अधिक याद आता है। वह चित्र जीवित हो कर आँखों के सामने आता है—कल्पना के गले का हार बना जा रहा है !

पहले-पहल पेन्सिल की सी हलकी रेखा में एक चित्र हृदय-पटल पर खिंच गया था। दिनों में भी क्या बाल-चाञ्चल्य है कि उस चित्र की सारी रेखाओं पर नख फेरते जा रहे हैं।

पर यह सब व्यर्थ है। अब चाहे वह कल्पना से निकल कर आँखों के सम्मुख ही क्यों न खड़ा हो जाय, अब तो यह हार दूसरे के गले पर पड़ गया—यह जीवन किसी दूसरे के ही नाम लिख गया।

कल ही लग्न है। भगवान जाने यह लगन तारा के ऊपर गगन में जा कर चढ़ेगी या भूमि पर ही! सब तो मोद-मग्न हैं; पर तारा के मन की बात केवल वही जानती है!

तारा क्षत्रिय-बालिका थी। पढ़ी-लिखी थी। सतियों के चरित्र पढ़ते-पढ़ते उसकी अवस्था बीती थी। सती का आदर्श उसके खून में था—माँ के दूध के साथ आया था। वह अपने मन में अपने को सती समझ चुकी थी। सतीत्व का अभिमान उसकी नस-नस में व्याप्त हो चुका था। उस अभिमान को कड़ी ठेस लग रही थी। आधुनिक लज्जा के आवरण में पली थी। उसे भी नहीं छोड़ सकती थी! छोड़ भी देती तो कोई लाभ न होता! वह दिन बीता, दूसरा दिन भी आ गया। अब वेदना असह्य हो उठी। मन में व्यथा थी—घोर-घोरातिघोर! तन की रग-रग में पीड़ा थी। सौ बिच्छुओं का डङ्क एक साथ ही पड़ता—नस-नस काट दी जाती और यह किया जाता सतीत्व के लिये, तो तारा इतनी विह्वल न होती! परन्तु धीरे-धीरे बड़ी धूम-धाम के साथ उसके सतीत्वा-पहरण की घड़ी चली आ रही थी। बाजों का वज्र-निनाद—चहल-पहल की गोली की बौछार उससे सही नहीं जाती थी।

लज्जा का बन्धन भी विचित्र है ! बँधी हुई वस्तु जल कर राख हो जाय; पर बन्धन न जले ! लज्जा तो सतीत्व का भूषण है न; पर उसी ने सतीत्व का नाश किया ! मणिमाला ने नागिन बन कर डसा ! मौन का विष व्याप्त है, प्राण जाने भर की देरी है; पर लज्जा ही का दोष नहीं था ! परिस्थिति भी प्रतिकूल थी । उसी समय—आँखें चार होते ही यदि वह किसी पर अपने मन का भाव प्रकट कर देती, तो उस मोहन-मूर्ति का नाम और पता पूछ लिया जाता, पर उसके पश्चात् अब क्या किया जाय । चित्र भी था, तो हृदय पर ! कागज़ पर नहीं था कि उसके सहारे उस मूर्ति का पता लगाया जा सकता !

तारा सोच रही है, मैं उन्हीं सतियों की सन्तान हूँ, जिन्होंने अपनी सतीत्व-रक्षा के लिये सब कुछ किया—प्राण दे दिया—जीते जी जल मरीं ! जिनके मन में किसी प्रकार पर-पुरुष का ध्यान नहीं आया । और मैं ? मैं मन में किसी और की पूजा करते हुए तन किसी और को सौंपने जा रही हूँ । हाय ! कलङ्क !! लोग कहेंगे कि मुझे किसी से मन लगाने का अधिकार ही नहीं था । हिन्दू-बाला के लिये ऐसा करना ही पाप है ; परन्तु क्या मैं उन्हें खोजने गई थी ? क्या मैंने अपने हृदय से कोई अनुरोध किया था ? यह सब तो आप ही आप हो गया ! फिर मेरा क्या अपराध ? कुछ नहीं ! निश्चय ही कुछ नहीं !! यह विधाता का विधान है । मैं शायद उन्हीं के लिये बनी हूँ । निश्चय मुझ से उनका सम्बन्ध नियति-निश्चित है, नहीं तो एक भारतीय सती-बाला का हृदय किसी भी व्यक्ति को देख कर डग-मग नहीं हो सकता ! फिर मेरा विवाह उनके साथ क्यों नहीं हुआ ? कदाचित् यह मेरी परीक्षा हो—उनके वियोग में मरना ही बदा हो ! पूर्वजन्म

के किसी दोष का यह प्रायश्चित हो सकता है। मैं इस जन्म में भी फिसली—किसी दूसरे को शरीर समर्पण किया, तो आगामी जन्म में न जाने क्या दशा हो ! नहीं-नहीं !! कोई दशा क्यों होने लगी—मैं फिसलने क्यों लगी !

अथवा यह विवाह रुक भी सकता है। मैं यह बात स्पष्ट क्यों न कह डालूँ ? कोई नाम धरे तो धरा करे ! पर हाय रे ईश्वर ! मैं कहूँ क्या ? मुझे तो यह पता भी नहीं कि वे कौन हैं, कहाँ रहते हैं ? इस महाद्वीपप्राय भारत के किस नगर में उनका निवास है ? जब गुरुजन पूछेंगे कि मैं किससे विवाह करना चाहती हूँ, तो मैं क्या उत्तर दूँगी ! यदि उदार होकर वे उनकी खोज करना भी चाहें, तो किस आधार पर खोज करेंगे। मैं तो उनके साथ भारतवर्ष भर के युवकों का निरीक्षण करने जा नहीं सकती। फिर न जाने वे कौन जाति के हैं—नहीं-नहीं, वे मेरी ही जाति के होंगे ! न जाने वे विवाहित हैं अथवा अविवाहित हैं। यदि वे विवाहित हुए और भाग्य में पति-देव की प्रथम पत्नी की दासी बन कर ही पूर्वकृत किसी पाप का प्रायश्चित करना ही बदा हुआ, तो माता-पिता कैसे उनके साथ—(विवाहित के साथ)—मेरा विवाह करना स्वीकार करेंगे !

दुनिया में जितने मुँह उतनी बातें हैं। न जाने और लोग—बाहर के लोग—निन्दक लोग मेरी बात का क्या अर्थ निकालें ? सम्भव है, वे मुझे कोई कलङ्क लगा दें कि यह किसी के साथ भ्रष्ट हो चुकी थी। भगवान जाने क्या-क्या उलझनें पैदा हो जायँ ! कुछ कहने-सुनने से कोई लाभ नहीं। यदि वे न मिले, तो क्या माता-पिता मुझे जन्म भर अविवाहित रहने देंगे ? कदापि नहीं ! रहने भी दें, तो लोग न जाने क्या-क्या बातें उड़ावें। बाद में

कोई किसी के साथ कुछ बदनामी उड़ादे ! ईश्वर-ईश्वर ! संसार टेढ़ा है । तो फिर मेरा क्या कर्तव्य है ? सतीत्व-हनन ! कुलटावृत्ति !!

हाय ईश्वर ! तुम्हीं इस अबला को सत्पथ दिखाओ !! तुमने मुझे बड़ी कठिन परीक्षा में डाल दिया है ! धरतीमाता, तुमने जिस प्रकार सतीशिरोमणि सीता देवी को मार्ग दिखा दिया था, उसी प्रकार मुझे मार्ग क्यों नहीं दिखा देतीं । क्या तुम भी मेरी परीक्षा लेना चाहती हो ? परीक्षा लो ! सब कोई मेरी परीक्षा लो !! मैं भारत-सतियों की सन्तान—इस पवित्र भूमि की ज्योति—मैं त्रिभुवन की पवित्रता की शिखा, मैं सत्य की जीती-जागती मूर्ति—मेरी परीक्षा लो ! मैं क्या अपना धर्म भी नहीं रख सकती ?

हा ! कहाँ गया वह विगत शताब्दियों का सतीत्व-तेज ? कहाँ गया वह योगियों को भी चमत्कृत कर देने वाला चमत्कार ? कहाँ गया वह विश्व-कम्पित करने वाला आत्म-बल ? हाय, वह सती ! वह दृश्य—'अस कहि योग-अग्नि तनु जारा ।' क्या मैं ऐसा नहीं कर सकती ?

(बाल फटकार कर कहती है) हाय ! काली कलुषित केश-राशि ! कहाँ गई तुम में छिपी हुई वह ज्वाला ? वह निकल कर मुझे जला क्यों नहीं देती ? हा ! वह भी परीक्षा ले रही है । हाय ! मैं परवश गौ के समान किसी दूसरे के हाथ सौंपी जाऊँ और तुम कठोर-हृदय काले केश ! अपनी ज्वाला इस प्रकार छिपाये रहो—उसका मेरे लिये उपयोग न करो ! न करो, न करो, न करो !!! मैं स्वयं तुम में आग लगा दूँगी !

कोई दूसरा मेरा हाथ पकड़ेगा ? नहीं, यह नहीं हो सकता ! चाहे पृथ्वी उलट जाय, ब्रह्माण्ड छिन्न-भिन्न हो जाय; परन्तु सती

ऐसा अपमान नहीं सह सकती। दूसरे से संसर्ग! केवल पिता का घर बिकता देख कर स्नेहलता जल मरी! आज कल भी न जाने कितनी सतियों ने मुझे मार्ग दिखाया है। उनसे कभी न कभी तो मिलूँगी ही! जन्मान्तर में ही सही!!

सकल देव-वृन्द, तुम साक्षी रहना! तुम्हारे ही दोष से मैं आत्म-हत्या का पाप करूँगी! मेरा उसमें कोई अपराध न होगा!!

पाप, तुच्छ आत्म-हत्या का पाप! मुझसे सम्बन्धित होकर वही पुण्य हो जायगा! सतीतेज में ऐसे पाप जल कर पवित्र विभूति बन जाते हैं। मैं इस प्राण-त्याग की होली में पाप-पुण्य सभी स्वाहा कर दूँगी। हे भगवन्! क्या सतीत्व के अपमान का संयोग उत्पन्न करके ही तुम सन्तुष्ट नहीं हुए हो? क्या उसके नाम यमदेव के द्वारा आत्म-हत्या का पाप लिखवा कर उसका बार-बार अपमान करना चाहते हो। तुलसी के साथ अन्याय करके उस सती शिरोमणि के तेज के सम्मुख तुम भी एक बार लज्जित एवं तुच्छ प्रतीत हुए थे। दूसरी बार फिर सती के साथ खेल करते हो? हाँ, तुम तो सती के सामने स्वयं विनत हो। तुम्हारा मुझे क्या भय? चाहे जो पाप-पुण्य मेरे खाते में लिखवाया करो—मुझे उनकी रत्ती भर भी चिन्ता नहीं है!

हाँ, तो बस, जीवन की कुछ घड़ियाँ और शेष रह गई हैं। मन! कोमलता को छोड़ दो, अब पत्थर हो जाओ!! उन्हीं में ध्यान! उन्हीं में लीन हो जाओ!! वे—वे देख पड़ रहे हैं! कहीं दूर नहीं है! केवल एक जन्म का अन्तर है, फिर साथ ही साथ है—इस वियोग के बाद ही अनन्त संयोग है! उस स्वर्ग-सुमन का यही तो काँटा है, जो पहले गड़ रहा है!!

जिन अङ्गों को बड़ी विधि से पाला था, जो किसी की निष्काम-सेवा में लगाये जाने वाले थे, उन्हें अब उसी की स्मृति में जीवन-हीन कर देना होगा !

तन ! तुम अपने ही अङ्गों के परिचालन द्वारा अपना विनाश करने पर तत्पर हो जाओ ! हाय ! यह संसार—सुन्दरता का भण्डार—अब सदैव को छूट जावे ! कोई चिन्ता नहीं !! मेरे लिये कहीं इससे अच्छा संसार अवश्य होगा, जिसमें हम और वे दोनों एक दूसरे को प्राप्त होकर सुखमय कालयापन करेंगे ! यह ऊषा, यह सन्ध्या, वन-उपवन, उन्हें अपने मधुर रङ्ग से रँगती हुई हलकी चाँदनी ! वर्षा की बहार, शरत्-पूर्णिमा की अपार छटा, ये स: सदा के लिये आँखों से ओझल हो जावें !! हो सकता है कि मेरे भावी संसार में इनसे सुन्दर वस्तुएँ हों, पर ये तो नहीं रहेंगी ! हाय, आँखें धुँधली क्यों होती जाती हो ? सिर चक्कर क्यों खा रहे हो ? धरे, क्या तुम अपनी धुरी से अलग जा पड़ोगी। विष ! विष !! तुम्हीं मेरे एक-मात्र आधार हो। देखो, तुम को ठीक समय पर काम में लाऊँगी। केशों में निहित ज्वाला ! धरती आदि ने मुझ से मुख मोड़ लिया है, तुम मुँह न मोड़ना—धोखा न देना। अस्तु, अस्तु ......

तारा के विवाह का मुहूर्त निकट आ गया। वह मण्डप के नीचे लाई गई। उसका अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो रहा था। उससे चलते नहीं बनता था। स्त्रियों ने उसे किसी प्रकार चौक पर बिठाया। वर आया। धोखे से घूँघट के भीतर तारा की आँख ऊपर उठी। वही मूर्ति सामने थी। चिरपरिचित प्यारा मुखड़ा नयनों में सुधा-वर्षा करने लगा; पर यह सुधा शरीरस्थ विष से जीत न सकी ! तारा को मानो काठ मार गया। इस भाग्य की विषमता

ने उसे पागल बना दिया। विष के प्रभाव से मस्तिष्क का उन्माद मिल गया। दुर्भाग्य के घोर तिमिर को भेद कर इस महासौभाग्य ने उस पर वज्रपात का काम किया। उसका हृदय बड़े वेग से विदीर्ण होने लगा। अगर एक घण्टा पहले यही बात ज्ञात हो जाती। हाय रे, नारी जाति की दुर्बलता, असहायता! तेरे प्राणों का कुछ भी मूल्य नहीं! चाहे प्राण चले जायँ; पर इतनी थोड़ी सी बात तुझे पहले नहीं ज्ञात हो सकती—"तो वालों ने परीक्षा नहीं ली थी। यदि किसी दूसरे के साथ सम्बन्ध होने को होता तो ज्वाला निकल पड़ती, धरती-माता फट जाती; सब कुछ हो जाता। मैंने ही चपलता की, सतीत्व के भरोसे न रह कर अपनी बुद्धि के भरोसे रही। अस्तु! अब क्या है, आँख भर देख लूँ।"

तारा ने निहालसिंह को एक बार आँख भर कर देखा। उसने अब लज्जा छोड़ दी! आगे बढ़ कर उनके पैर पकड़ लिये। वह शीघ्र ही गिर पड़ी! विष के प्रभाव और उस द्वन्द्वमय आघात से उसका हृदय विदीर्ण हो गया! अब उसका शव निहालसिंह के चरणों पर था!!

अर्थात्

जिस समय की बात हम लिख रहे हैं उस समय भारतवर्ष में अंग्रेजों का पदार्पण नहीं हुआ था। मुग़लों के साम्राज्य में भारत वर्ष ग़रीब नहीं था। धार्मिक द्वेष के उपद्रवों को छोड़ कर प्रजा के सुख में अन्य बाधाएँ नहीं थीं। ये बाधाएँ भी गावों और क़स्बों में नहीं पहुँचती थीं। विशेष बात जो हमें कहनी है वह यह है कि उस समय भारतवासियों में ज्योतिष अर्थात् फलित ज्योतिष पर बहुत अधिक विश्वास था। लोगों का जीवन इसी शास्त्र की झूठी या सच्ची भविष्य-वाणी से विशेष प्रभावित होता था।

दो फूल

रामनगर के एक छोटे से क़स्बे में फूलमती नामकी एक विधवा वास करती थी। उसके कोई भी आत्मीय जन नहीं था। उसके पति के एक घनिष्ठ मित्र थे जिनका नाम दयानिधि था। वही कभी कभी उसके यहाँ आया करते थे। उनके सस्नेह व्यवहार से उसको अपने निराशामय जीवन में कुछ धीरज बँधता था। नहीं तो उसका जीवन नितान्त नीरस था। उसका छोटा-सा अपना घर था। उसके सामने उसने एक छोटी सी फुलवारी लगा रक्खी थी। उसमें के फूल ही उसके प्रियजन थे। धीरे धीरे उसने अपने जनहीन जीवन को फूलों के साथ विहार करके कुछ सरस

बनाने का उद्योग किया। पर स्त्रियों का हृदय ऐसे फूलों से सन्तुष्ट नहीं होता। उनको चलते फिरते हुए फूलों की आवश्यकता होती है। बिना ऐसे फूलों के उनका जीवन असह्य हो जाता है। परन्तु फूलमती विधवा थी। उसको ऐसे फूल मिलें कहाँ? उसके पड़ोस में भी बालक बालिकाएँ न थीं। इधर उधर दूर तक जाकर वह कभी कभी किसी बालक या बालिका को देखती और इस प्रकार अपना हृदय शीतल करती थी। दयानिधि ने उसका यह भाव ताड़ लिया। उनके भी कोई सन्तान न थी जिसे वे उसे दे देते। अपनी प्रथम पत्नी के मृत्यु के पश्चात् उन्होंने विवाह नहीं किया था। उनका हृदय संसार से विरक्त हो गया था। वे बड़े ज्योतिषी एवं सामुद्रिक-शास्त्र-विशारद थे। ज्योतिष से उन्होंने यह भी जान लिया था कि उनका भावी जीवन कष्टमय होगा। अतएव उन्होंने उसे राम भजन में व्यतीत करने का निश्चय किया था।

एक दिन फूलमती अपने लघु-ललित उद्यान में पुष्प-शोभा का अवलोकन कर रही थी। वह पढ़ी लिखी थी। संस्कृत में उसकी अच्छी गति थी। सुमन-छटा उसके संस्कृत सुमन पर विशेष प्रभाव डाल रही थी। उसी समय दयानिधि वहाँ आए। उनकी अवस्था उसके स्वर्गीय पति से अधिक थी, अतएव वह उन्हें गुरु जनों में से एक समझती थी। उसने उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया। यह प्रणाम-आशीर्वाद अभी समाप्त नहीं हुआ था कि दयानिधि का एक भृत्य एक लगभग सात वर्ष का बालक और लगभग पाँच वर्ष की बालिका लिये वहाँ आ पहुँचा। वे दोनों ही सुन्दर थे। उनको देख कर फूलमती का मुख फूल के समान खिल गया। उसने बिना किसी शिष्टाचार के पूछा—

"ये कौन हैं?"

अर्थात्

"ज्ञात नहीं ये कौन हैं। पर ये मुझे अपने गाँव में एकाएक मिल गए हैं। इनके वारिस का पता नहीं। जान पड़ता है कि ये किसी अत्यन्त धन-हीन की सन्तान हैं। वह इनका भरण-पोषण न कर सका, अतएव इन्हें वहाँ छोड़ कर चला गया।"

"तो क्या आप इन्हें मुझे दे सकते हैं?"

"इन्हें तुम्हारे पास छोड़ने के लिये तो लाया ही हूँ।"

फूलमती सन्तुष्ट हुई। उसे मानों अपने जीवन के आधार मिल गए। उसने दयानिधि को इस कृपा के लिये धन्यवाद दिया। फिर मानों उनकी इस कृपा से विशेष बाधित होकर उसने उनके लिये विशेष खाद्य पदार्थ तय्यार किये और उन्हें भक्ति पूर्वक भोजन कराया। वे एक दिन वहाँ ठहरे। अन्त में उन्होंने फूलमती से कहा—

"देखो, मैं इन बच्चों को तुम्हारे पास छोड़ कर अब तुमसे बीस वर्ष के लिये बिदा लेता हूँ। मैं बीस वर्ष के बाद आज ही के दिन यहाँ आ सकूँगा। मैंने अपना घर बेंच दिया है। उससे जो मिला उसमें मेरे पास पहले से जो कुछ था वह भी मिला दिया है। उस धन को मैं तुम्हारे उपयोग के लिये छोड़े जाता हूँ।" यह कहकर कमर से एक प्रकार की थैली खोल कर उन्होंने फूलमती को दी।

फूलमती कभी उनका आदेश नहीं टालती थी। उसको ज्ञात था कि वे अत्यन्त दृढ़ प्रतिज्ञ हैं और अपने निश्चय के अनुसार ही कार्य करेंगे। अतएव उसने बिना कुछ कहे सुने थैली ले ली और पूछा—

"आप जाँयगे कहाँ?"

"जहाँ भगवान ले जायगा। कोई निश्चय नहीं है। साधु सेवा

करने का विचार है। यदि जीवित रहा तो फिर मिलूँगा। अन्यथा यह संदूक़ लो। इसको बीस वर्ष बाद खोलना—आज ही के दिन। बस और अधिक मत पूछो।"

फूलमती की आँखों में आँसू भर आए। जिनको वह बड़े भाई के समान मान कर सदा अपना ही समझती थी, वे भी आज उसे छोड़े जा रहे थे। वह उनसे कुछ कहना सुनना व्यर्थ समझती थी। उसे ज्ञात था कि वे अपने निश्चय से टलेंगे नहीं। वह अपने को न सँभाल सकी—रोने लगी।

दयानिधि ने कहा—

"देखो रोना ठीक नहीं। संसार में कोई संबंध स्थायी नहीं होता। तुम को तो केवल अपने भरोसे पर जीवन व्यतीत करने का अभ्यास है। एक बात और कहनी है। मैंने लड़के का ब्याह कर दिया है और लड़की का भी। अतएव उनमें प्रेम न उत्पन्न होने पावे। जब मैं आऊँगा तब देखा जायगा। तब तक उन्हें ब्रह्मचारी रहना चाहिये। दोनों को उपयुक्त शिक्षा देना।"

इसके पश्चात् वे जाने के लिये उठ खड़े हुए। फूलमती ने उनसे फिर मिलने की सारी आशा छोड़ कर उन्हें अन्तिम प्रणाम किया और फूट-फूट कर रोने लगी। वे कुछ नहीं बोले, चुप चाप चले गए। यह कहा नहीं जा सकता कि उनमें करुणा का संचार हुआ या नहीं।

फूलमती कुछ देर तक रोती रही, फिर उसने उन बच्चों की ओर ध्यान दिया। दिन बीतने लगे। इन चलते फिरते फूलों के साथ फूलमती सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगी। उनके साथ खेल करने में उसका अधिक समय बीतने लगा। दोनों ही उसको

अर्थात्

माँ कहने लगे। वह उन्हें नित्य नियम से शिक्षा देने लगी। बच्चे बढ़ने लगे।

दयानिधि की विचित्र आज्ञा के बारे में उसने अधिक सोच विचार नहीं किया। उसने सोचा कि वे परम चतुर हैं। उन्होंने बच्चों का हाथ देखकर उनके जीवन का सारा हाल जान लिया होगा। किसी न किसी कारण उन्होंने लड़के का व्याह कर दिया और लड़की का भी। कदाचित उनके उस समय विवाहित हो जाने से उनका कोई अरिष्ट टल गया होगा। उनकी बुद्धिमत्ता पर उसको पूर्ण विश्वास था, अतएव उनकी आज्ञा पालन को अपना कर्त्तव्य समझ कर वह उसी के अनुसार कार्य करने लगी।

बाधा

अभी बालक-बालिका का अधिक समय खेल में जाता था। इन दोनों के खेल-कूद से फूलमती के लिये वह घर अत्यन्त रमणीय हो चला था। जब वे दोनों गोद में बैठकर उससे तोतली बातें करते थे, जब वे उसे माँ कह कर पुकारते थे, तब उसे स्वर्गीय आनन्द मिलता था। सौभाग्यवती स्त्री के लिये बाल-सुख अपूर्व है, विधवा के लिये वह और भी अपूर्व है, क्योंकि वह पति-अवलम्ब को छोड़ कर केवल सन्तान के सहारे पर रहती है, फिर निस्सन्तान अतएव सन्तान-आशा-रहित एकाकी असहाय विधवा को यदि सौभाग्य से सन्तानवत शिशु-प्राप्त हो जायँ, तो उसके सुख का क्या कहना है? फूलमती अपनी सम्पत्ति की भलीभाँति रक्षा करने लगी। उसने उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया। स्वयं पढ़ाती थी और एक विद्वान ब्राह्मण भी उनके पढ़ाने के लिये नियुक्त कर दिया था।

बालक-बालिका के शरीर और बुद्धि दोनों उन्नति करने लगे। फूलमती और शिक्षक महाशय दोनों उनकी बुद्धि पर मुग्ध थे। दोनों ने लघु-कौमुदी शीघ्र ही समाप्त कर दी। अब सिद्धान्त का आरम्भ हुआ। वे रघुवंश भी पढ़ने लगे। साथ ही फूलमती इस बात का भी ध्यान रखने लगी कि वे नित्य उचित व्यायाम करें।

अब दोनों की किशोरावस्था समाप्त हो रही थी। इस वय में प्रेम करने की और प्रेम-प्राप्त करने की इच्छाएँ बलवती हो उठती हैं। व्याकरण में गति प्राप्त होने पर उनका काव्य का अध्ययन भी अच्छा हो गया था। यद्यपि उन्हें अपने गुरुओं द्वारा दुष्यन्त-शकुन्तला का मिलन-विभाग नहीं पढ़ाया गया था, परन्तु वे उसे अत्यन्त एकान्त में योगी-दुर्लभ चित्त की एकाग्रता से पढ़ चुके थे। अपने जीवन में उसी प्रकार का अवसर पाने की इच्छा मानों उनके हृदय के साथ खेला करती थी। उन्हें यह भी ज्ञात हो गया था कि वे विवाहित हैं। लड़की यह जान गई थी कि मेरा विवाह किसी के साथ हो गया है और लड़का भी जान गया था कि मेरा विवाह किसी के साथ हो गया है। अतएव कभी कभी वे मेघदूत के दोनों पात्रों का एकान्त अभिनय करते थे। परन्तु उनके गुरुओं की ब्रह्मचर्य-व्याख्यान-माला और लज्जा उनके उक्तभावों को दबाए रहती थी।

\+ + + +

फूलमती ने प्यार से लड़के का नाम लल्ला और लड़की का नाम मुन्नी रख दिया था। लल्ला और मुन्नी की इस अवस्था में वह बहुत सशंक रहती थी। अतएव वह उन्हें घुमा फिरा कर ब्रह्मचारी रहने का संकेत सदैव किया करती थी। वे दोनो सलज्ज भाव से

नतमस्तक होकर ऐसे संकेत सुनते और अपने हृदयों को पवित्र रखते थे।

एक दिन उनके गुरु उन्हें योग के अंग बता रहे थे और अपने गृहस्थ जीवन पर पश्चात्तापात्मक आलोचना करते हुये आजन्म ब्रह्मचर्य के महान आदर्श की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर रहे थे। लड़्डा और मुन्नी मुग्ध होकर उनके विद्वत्तापूर्ण भाषण को सुन रहे थे। इतने में घर के सामने से एक बारात निकली। उस बरात को देखकर उन लोगों का ध्यान प्रस्तुत विषय से घनिष्ट संबंध रखने वाले विवाह की ओर आकर्षित हुआ।

लड्डा ने कहा—

"आर्य, संसार के सभी लोग तो विवाह करते हैं।"

"सभी नहीं अधिकांश लोग।"

"क्यों?"

"क्योंकि वे मोह में फँसे हुये हैं।"

"फिर प्रजापति ने सन्तान की इच्छा क्यों की।"

"वह सृष्टि का आदि काल था, उस समय सृष्टि की आवश्यकता थी, परन्तु अब सृष्टि पर्याप्त हो चुकी है, उसकी आवश्यकता नहीं रह गई है।"

"यदि सभी विवाह न करें तो सृष्टि का होना ही बन्द हो जाय।"

"हमने सृष्टि बढ़ाने का ठेका नहीं ले रक्खा है, हमारा अन्तिम उद्देश्य तो सृष्टि का अन्त अर्थात् सबका मोक्ष है।"

गुरु जी के इस पाण्डित्य पूर्ण तर्क का विद्यार्थियों के पास कोई उत्तर न था। लल्ला और मुन्नी दोनों ने मुग्ध होकर स्वीकार किया कि उनकी बात ठीक है।

फूलमती के और गुरु के उपदेशों से उनके भाव बहुत दिनों तक दबे रहे। परन्तु युवावस्था की उमंग में वे उपदेश बहे जा रहे थे। दोनों का दोनों के प्रति एक अनिर्वचनीय भाव पैदा हो रहा था। वे धर्मभीरु थे। इसलिये वे मनमें कलुषित भाव न लाते थे, यहाँ तक कि कभी एक दूसरे को प्रेमी के रूप में भी न देखते थे, परन्तु उनमें एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़ता ही जाता था। मदन देव अव्यक्त रूप से अपना काम कर रहे थे।

उस समय वसन्त ने बसुधा की सुषमा को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया था, कोयल का पंचम स्वर मानव मात्र के नस नस में मद का संचार कर रहा था। फूलमती के उस लघु उपवन के समस्त सुमन प्रफुल्लित थे। उन पर भौंरे गूँज-गूँज कर, अपने श्याम शरीर की श्याम छाया डाल-डाल कर, एक मनोहर सौन्दर्य की सृष्टि कर रहे थे। फूलमती किसी कार्य वश देर से बाहर गई थी। लल्ला और मुन्नी दोनों बैठे हुये उसी उद्यान में वार्तालाप कर रहे थे। मुन्नी बातें करती जाती थी और एक हार गूँथती जाती थी। जब हार बन गया तो उसने लल्ला की ओर देखा। दोनों की दृष्टियाँ मिल गईं। तत्काल ही दोनों की दृष्टियाँ नीची होगईं। लल्ला इस दृष्टि-मिलन के महापातक से भयभीत होकर भागा जा रहा था, परन्तु उसके अपूर्व आनन्द की स्मृति से रुक गया। मुन्नी ने अतीव साहस करके वह हार उसे पहना दिया। अब लल्ला से भी न रहा गया। उसने एक गुलाब का फूल तोड़कर मुन्नी को प्रत्युपहार

दिया। कुछ देर दोनों चुपचाप बैठे रहे। फिर लल्ला ने साहस करके कहा—

"मुन्नी, तुम कुछ दिनों में अपने घर चली जाओगी ?"

मुन्नी ने एक बार शिर उठा कर फिर लल्ला की ओर देखा। दोनों की दृष्टियाँ फिर मिल गईं। इस बार उनमें करुणा थी। मुन्नी ने फिर शिर नीचा कर लिया। वह कुछ बोल न सकी। उसकी आँखों से आँसू की बूँदे गिरने लगीं। इस समय मुन्नी को सान्त्वना देना लल्ला ने अपना कर्तव्य समझा। उसने बड़े प्रेम से उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया और उसे समझाने लगा। मुन्नी अपने को न सम्हाल सकी। उसका शिर मानों आपही आप लल्ला की गोद में आगया। इतने ही में पृष्ठ भाग से फूलमती का कर्कश स्वर सुन पड़ा—

"देखो लल्ला, पराई स्त्री का स्पर्श पाप है।"

लल्ला मानों लज्जा से भूमि में गड़ गया। उसने झटपट मुन्नी का शिर अपनी गोद से अलग किया और माता से हाथ जोड़ कर बोला—

"माँ, तुम्हारे चरणों की सौगंध, हम लोगों के हृदय में कलुषित भाव नहीं था। मैंने मुन्नी से कहा कि कुछ दिनों में तुम अपने घर चली जाओगी तो वह रोने लगी। मैं उसे समझा रहा था।"

फूलमती ने लल्ला के शिर पर हाथ फेरते हुये कहा—

"मैंने और कुछ नहीं कहा, तुम्हें केवल सचेत किया। यह तो माता का धर्म ही है।"

बात यहीं खतम होगई। लल्ला और मुन्नी आगे के लिये सतर्क होगये।

लल्ला और मुन्नी को यह भी ज्ञात होगया था कि फूलमती उनकी असली माँ नहीं है। लड़कपन में जो उनमें से प्रत्येक का विवाह हो गया था इससे वे दुखी थे, पर फूलमती पर वे अपना दुख प्रकट न होने देते थे। उन्हें यह आश्चर्य भी था कि उनको जन्म भर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का उपदेश क्यों दिया जाता है। एक बार उनके गुरुवर से और उनसे फिर बहस छिड़ी।

लल्ला—"गुरु जी, मैं विवाहित हूं, मुन्नी भी विवाहित है, फिर आप हम लोगों को जन्म भर ब्रह्मचर्य धारण करने का उपदेश क्यों दिया करते हैं ?"

गुरु—"बेटा इसमें भेद है। तुम भी विवाहित हो और मुन्नी भी विवाहित है। किन्तु इसका पति कहाँ है और तुम्हारी पत्नी कहाँ है, इसका तुम्हारी माँ को पता नहीं है। संभव है वे संसार में हों, संभव है न हों। अतएव तुम लोगों को जन्म भर ब्रह्मचर्य धारण करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये।"

लल्ला—"तो क्या माता जी ने हमारा व्याह नहीं किया ?"

गुरु—"नहीं, और किसी ने किया है।"

यह सुनकर फूलमती के ऊपर लल्ला की श्रद्धा बढ़ गई। उसने समझ लिया कि उसको बाल्यावस्था में ही बन्धन में बाँधने का दोष उसका नहीं है। साथ ही उसने यह भी समझ लिया कि समस्या टेढ़ी है और इस विषय में चुप रहने लगा।

परिणाम

लल्ला और मुन्नी दोनों ने भाग्य को प्रतिकूल समझ कर जन्म भर ब्रह्मचारी रहने का दृढ़ निश्चय करके विद्या पढ़ी। धीरे

धीरे दोनों उच्च विद्यासम्पन्न हो गये। वह दिन भी आ गया जब दयानिधि ने आने को कहा था। परन्तु वे उस दिन न आए। फूलमती व्यग्र हो गई। उसने समझा कि दयानिधि की जीवन-लीला समाप्त हो गई। उसे एकाएक स्मरण हुआ कि दयानिधि उसे एक सन्दूक़ दे गये थे और यह कह गये थे कि मैं न आऊं तो उसे खोलना। फूलमती संदूक ढूँढ़ कर उठा लाई और उसने उसे खोल डाला। वह खाली निकली। अब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसके समझ में न आया कि बात क्या थी। दयानिधि झूठ बोलने या धोखा देने वाले मनुष्य न थे। अवश्य उनको कुछ धोखा हुआ। उनके पास ऐसी दो संदूकें रही होंगी और वे एक के बदले दूसरी उठा लाए। उसने भाग्य को लल्ला और मुन्नी के विरुद्ध जाना और चुप रही।

वह दिन बीत गया। दूसरे दिन उसे अचानक अपने लघु उद्यान से कुछ दूर पर चिरपरिचित हरिनामोच्चारण सुन पड़ा। वह उठकर घर से बाहर आई तो देखा कि दयानिधि सामने खड़े हैं। वे गेरुआ वस्त्र धारण किये और जटा बढ़ाए हुए थे। उनकी मुखाकृति में बहुत परिवर्तन नहीं हुआ था। फूलमती ने उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम किया।

भोजनादि से निवृत्त होकर संध्या समय दयानिधि ने कहा—

"तुमने वह संदूक़ खोला था ?"

"हाँ, परन्तु उसमें कुछ नहीं था।"

"तब मैंने भूल की, दूसरी ही संदूक़ उठा लाया।"

"खैर ! अब यह बताइये कि संदूक में क्या रक्खा गया था ?"

"यही लिख कर रक्खा गया था कि मुन्नी का विवाह किसके साथ हुआ था और लल्ला का किसके साथ।"

"हाँ, यही पूछने को तो मैं भी उत्सुक हूँ।"

"मैंने उस समय क्या कहा था?"

"यही कि लल्ला का भी ब्याह हो चुका है, मुन्नी का भी।"

"तो फिर क्या पूछ रही हो?"

"कि किसके किसके साथ?"

"मेरी बात का अर्थ तो स्पष्ट है।"

"क्या अर्थ है?"

"अर्थात् आपस में या एक दूसरे के साथ" यह कह कर दयानिधि मुस्कुराये।

फूलमती ने अपनी अत्यन्त प्रसन्नता को दबाते हुए कहा—

"तब आपने मुझे इतना धोखा क्यों दिया?"

"धोखा देना ही आवश्यक था, यदि इन दोनों का मिलन कल के पहले होता तो इनकी तुरन्त मृत्यु हो जाती।"

फूलमती यह बात सुन कर पहले तो सहम गई, फिर उठ कर चली गई। होनहार की प्रबलता के विचार में अपनी आशंकाओं को विलीन करके उसने पुष्पशय्या का प्रबन्ध किया।